विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर

"मध्यप्रदेश शिक्षा विभाग के आदेश क्रमांक स। विशा   टा। ५६४
दिनांक ४ मार्च १९६४ द्वारा स्वीकृत"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी – मार्च १९६५

प्रधान सम्पादक

स्वामी आत्मानन्द,

सह – सम्पादक

सन्तोषकुमार झा, रामेश्वरनन्द

विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्य प्रदेश)

फोन नम्बर. १०४६

अनुक्रमणिका

कव्हर चित्र परिचय— स्वामी विवेकानन्द

(कलकत्ता में— १८९७ ई०)

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"

विवेक - ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ३] जनवरी - १९६५ - मार्च [अंक १

वार्षिक शुल्क ४) -*- एक प्रति का १)

आत्म दर्शन का उपाय

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो

न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः

तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥

—यह आत्मा वेदाध्ययन के द्वारा नहीं मिलता, न वह मेधा के बल पर ही प्राप्त किया जा सकता है और न बहुतसा श्रवण करने से ही । यह साधक जब (संसार की अन्य वस्तुओं को छोड़कर) आत्मा का ही वरण करता है, तब उस (वरण) के द्वारा ही आत्मा की प्राप्ति होती है; (क्योंकि तब उस वरण से प्रसन्न होकर) वह आत्मा उस साधक के प्रति अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है ।

—कठोपनिषद्, १।२।२३

फुफकारो, काटो मत !

किसी मैदान में ग्वाले गाय-भैंस चराया करते थे। उसी मैदान में एक भयानक विषधर सर्प रहता था। उसके भय से सभी अत्यन्त सावधान रहा करते थे। एक दिन ग्वालों ने देखा, कोई ब्रह्मचारी उस रास्ते से चले जा रहे हैं। वे ब्रह्मचारी के पास दौड़े गये और कहा, "महात्माजी, इस रास्ते से न जाइये। उधर एक बड़ा भयानक जहरीला साँप रहता है।" ब्रह्मचारी ने कहा, "भाई, सो रहे; मुझे कोई डर नहीं है। तुम लोग चिन्ता न करो। मैं मंत्र जानता हूँ।" यह कहकर ब्रह्मचारीजी उसी रास्ते से चल पड़े। डर के मारे कोई चरवाहा उनके साथ न गया। इधर वह साँप फन उठाये जोरों से ब्रह्मचारीजी की ओर लपका, पर उसके पास आते ही ज्योंही उन्होंने मंत्र पढ़ा कि साँप केंचुए की तरह उनके पैरों पर लोटने लगा। ब्रह्मचारी ने साँप को सम्बोधित करते हुए कहा, "अरे, तू क्यों दूसरों की इस प्रकार हिंसा करता है। आ, तुझे मंत्र दे दूँ। इस मंत्र के जाप से भगवान में तेरी भक्ति होगी, उनके दर्शन कर सकेगा और तेरी हिंसा की प्रवृत्ति दूर हो जायगी।" यह कहकर उन्होंने सर्प को मंत्र दे दिया। मंत्र पाकर साँप ने गुरु को प्रणाम किया और पूछा, महाराज, साधना कैसे करूँगा ?" गुरु ने कहा, "बस, इस मंत्र का जाप करना और हिंसा बिलकुल छोड़ देना।" जाते समय ब्रह्मचारी कहते गये, "मैं फिर से आऊँगा।"

इस प्रकार कुछ दिन बीते। ग्वालों ने देखा कि अब साँप

काटने नहीं दौड़ता। पत्थर मारने से भी वह क्रोधित नहीं होता। जैसे केंचुआ ही हो गया है। एक दिन एक ग्वाला उसके पास गया और उसकी पूँछ को पकड़कर जोर-जोर से घुमाकर उसे जमीन पर दे मारा। साँप के मुँह से खून बहने लगा और पीड़ा के मारे वह अचेत हो गया। ग्वालों ने देखा कि साँप में कोई हलचल नहीं। सोचा, साँप अब मर गया है और ऐसा सोचकर वे लोग चले गये।

बहुत रात गये साँप को होश आया। वह बड़े कष्ट के साथ धीरे धीरे अपने बिल में पहुँचा। उसका सारा शरीर चकनाचूर होगया था—हिलने-डुलने की शक्ति उसमें न रही थी। बहुत दिनों तक वह उसी प्रकार पड़ा रहा। भोजन न मिलने से उसका सारा शरीर सूख गया। डर के कारण वह दिन में बाहर नहीं निकलता था। रात में जो कुछ मिल जाता उसी पर निर्वाह करता। मंत्र लेने के बाद से उसने हिंसा छोड़ दी थी, इसलिए मिट्टी, पत्ते तथा पेड़ से गिरे फल आदि को खाकर ही वह अपनी भूख शान्त करता।

लगभग एक वर्ष बाद ब्रह्मचारीजी पुनः उसी रास्ते से निकले। आते ही उन्होंने साँप की खोज की। चरवाहों ने कहा, "वह साँप तो मर चुका है।" पर ब्रह्मचारी को उनकी बात पर विश्वास नहीं हुआ। वे जानते थे कि उन्होंने उस सर्प को जो मंत्र दिया है उसकी सिद्धि होते तक साँप नहीं मर सकता। वे उस मैदान में साँप को इधर-उधर खोजने लगे और उसे अपना दिया हुआ नाम ले-लेकर पुकारने लगे। साँप ने ज्योंही गुरुदेव की आवाज सुनी,

वह बिल से बाहर निकल आया और बड़ी भक्ति से उसने गुरु को प्रणाम किया। ब्रह्मचारी ने पूछा, "तू कैसा है ?" साँप ने उत्तर दिया, "जी, मैं अच्छा हूँ।" ब्रह्मचारी ने फिर पूछा, "पर तू तो बड़ा दुबला दीखता है। ऐसा क्यों ?" साँप बोला, "महाराज, आपने कहा था न कि हिंसा न करना, इसीलिए पत्ते-फल आदि खाकर रहता हूँ। शायद इसी कारण दुबला हो गया हूँगा।" साँप इतना सत्त्वगुणी हो गया था कि किसी पर उसका क्रोध न था! वह भूल ही गया था कि चरवाहों ने तो उसे लगभग मार ही डाला था। ब्रह्मचारी साँप की बात सुनकर बोले, "नहीं, केवल न खाने से इतने दुर्बल नहीं हो सकते। अवश्य कुछ दूसरा कारण है। जरा सोच देखो।" तब साँप को वह घटना याद आयी। बोला, "महाराज, अब स्मरण आया। एक दिन ग्वालों ने मुझे जमीन पर दे मारा था। वे अज्ञान में थे, वे मेरे मन की अवस्था नहीं जानते थे। उन्हें भला कैसे मालूम हो कि मैंने किसी को काटना या अनिष्ट पहुँ-चाना बन्द कर दिया है ?" तब ब्रह्मचारीजी ने कहा, "छिः! तू भी परले सिरे का मूर्ख ठहरा! अपनी रक्षा करना जानता नहीं। अरे! मैंने तुझे काटने के लिए मना किया था, फुफकारने के लिए तो नहीं। फुफकार मारकर तूने उन लोगों को भय क्यों न दिखाया ?"

इस संसार में भले और मन्द दोनों प्रकार के लोग हैं। दुष्ट लोगों के प्रति फुफकारना पड़ता है, उन्हें भय दिखाना पड़ता है, जिससे वे हमारा अनिष्ट करने का साहस न कर सकें।

मन – उसकी शक्तियाँ और उसके उपयोग

श्रीमत् स्वामी प्रभवानन्दजी महाराज, अमेरिका

मानव-मन का स्वभाव कैसा है? मनुष्य अपने मन का उपयोग कैसे करे? साधक के लिए ये प्रश्न बड़े महत्व के हैं किन्तु अधिकांश लोग ऐसे प्रश्नों में कोई विशेष रुचि नहीं रखते, उनकी जिज्ञासा केवल विद्या-विलास के लिए होती है। वे मन की वृत्तियों और आवेगों को खुली छूट दे देते हैं और हवा में उड़ते सूखे पत्तों की तरह वे भी जीवन की तरंगों से थपेड़े खाते बहते रहते हैं। सुख और दुःख का चक्र नित्य चलता रहता है, फिर भी वे ऐसा सोचते हैं कि दुःखों से दूर रहकर वे केवल सुख का ही उपभोग करेंगे। जब भी उनके सामने विपत्ति आती है तो वे सोचते हैं कि वह समस्या कट जाने से उन्हें शाश्वत शान्ति मिलेगी। जब कई बार उन्हें बहुत से लोगों के जीवन में दु:ख और निराशा का अनुभव होता है तभी वे यह अनिवार्य पाठ सीखते हैं कि इन्द्रिय भोग क्षणिक हैं और सीमित वस्तुएँ चिर तृप्ति नहीं प्रदान कर सकतीं।

विश्व के महान् धर्म ग्रंथ और धर्मोपदेशक इसी मूलभूत सत्य की घोषणा करते हैं कि जीवन का अनुभव हमें सांसारिक वस्तुओं की क्षणभंगुरता की ही सीख देता है। वे इतना ही कहकर नहीं रुकते। वे बताते हैं कि शाश्वत शान्ति पाना संभव है और हमें उसके पाने का उपाय भी

प्रदर्शन करते हैं। उपनिषद् कहते हैं, "नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखम्"— अल्प में, सीमित में सुख नहीं है, सुख तो भूमा में है, असीम में है। ईसामसीह बाइबिल में उपदेश देते हैं, "मैंने ये बातें तुमसे कही हैं जिससे कि तुम मुझमें शान्ति पा सको। संसार में तो केवल तुम्हें दुःख मिलेगा पर निराश न होओ, प्रफुल्ल बने रहो; मैंने संसार को जीत लिया है।" बुद्ध ने तो अपना सारा दर्शन ही भवदुःख पर आधारित कर लिया। उन्होंने बताया कि कोई भी व्यक्ति वार्धक्य, रोग और मृत्यू रूपी मानव जीवन के त्रिविध दु.खों से छुटकारा नहीं पा सकता। और बाद में ईसामसीह के समान उन्होंने भी सिखाया कि इन दुःखों का उपशम हो सकता है और निर्वाण में यथार्थ शान्ति का अनुभव किया जा सकता है।

जब जीवन के अनुभवों के आधार पर हम देखते हैं कि संसार में दुःख-कष्ट बिल्कुल अनिवार्य हैं तभी शास्त्रों एवं तत्वज्ञ महात्माओं की वाणी हमारे हृदय को छूती है। तब हम विचार पूर्वक विनाशी में अविनाशी को खोजने की इच्छा करते हैं और संसार को जीतने का प्रयत्न करते हैं।

यह संसार क्या है जिसे हम जीतना चाहते हैं? वह है कहाँ? भारत के महान् दार्शनिक और ऋषि शंकराचार्य आज से लगभग तेरह सौ वर्ष पूर्व लिख गए हैं—"जाग्रत् हो या स्वप्न की अवस्था, अनुभवकर्ता का मन ही अनुभव में आनेवाली सारी वस्तुओं का सृजन करता है। ....।

मन उसे भ्रमित करता है। वह उसे शरीर, इन्द्रियों और प्राणों के बन्धनों से जकड़ देता है।" वह अपने ही द्वारा बनाये गए कर्मफलों के अनन्त जाल में उसे भटका देता है।" संसार को जीतने की समस्या हमें इतनी विकट इसलिए लगती है क्योंकि हम नहीं जानते कि यह संसार हमीं ने अपने अपने मन में रचा है। किसी ने हमें चोट पहुँचा दी या अन्य किसी ने हमें सुख दिया कि बस, हममें तुरत उसकी प्रतिक्रिया होती है। यह चोट है कहाँ, वह सुख कहाँ है ? हमारे अपने मन में।

अमेरिका के महान् वैज्ञानिक और दार्शनिक प्रोफेसर ह्वाइटहेड विज्ञान के दृष्टिकोण से भी इसी तत्त्व को इंगित करते हैं। वे कहते हैं, "जो श्रेय हमें स्वयं को मिलना था वह प्रकृति को मिलता है। हम गुलाब को उसकी खुशबू का, बुलबुल को उसके गीत का और सूरज को उसकी आभा का श्रेय देते हैं। कवि लोग पूरी तरह भूल करते हैं; वास्तव में उन्हें तो चाहिए कि वे अपने आप को लक्ष्य करके अपने छन्दों की रचना करें और इस प्रकार उन छन्दों को आत्मप्रशस्ति के अथवा मानवमन की श्रेष्ठता के गीत बनादें। प्रकृति तो जड़ है, मूक, गंधहीन और अवर्ण है, केवल जड़ तत्त्वों की अर्थहीन अनन्त दौड़ है।"

हम कितने विभिन्न प्रकार से इस जगत् को देखते हैं! एक ईसामसीह, एक बुद्ध और एक अज्ञानी मनुष्य सभी तो इसी संसार में रहते हैं; सभी को भूख लगती है, रोग और पीड़ा का अनुभव होता है, सबों का भौतिक शरीर

नष्ट होता है। किन्तु जो तत्त्वज्ञ हैं, उनको यह दुनिया किस प्रकार दिखाई पड़ती है? वेद के एक ऋषि ने अपनी अनुभूति को इन शब्दों में प्रकट किया है—"आनन्दात् हि खलु इमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दम् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति" अर्थात् यह चराचर विश्व आनन्द से उत्पन्न होता है, आनन्द में टिका रहता है और आनन्द में ही पुनः लीन हो जाता है। जिन्हें आत्मा के संबन्ध में ज्ञान नहीं है, वे दुःख भोगते हैं, पर तत्त्वद्रष्टा व्यक्ति नित्य ईश्वरीय आनन्द का अनुभव करता है क्योंकि ईश्वर को ही लेकर उसकी समस्त क्रियाएँ होती हैं।

हम सब भी सन्तों के समान ईश्वर के इस आनन्द का अनुभव क्यों नहीं पाते? ईश्वर क्या है? वह कहाँ रहता है? हम क्या उससे अलग हैं? नहीं, ईश्वर हमारी आत्मा है, हमारे जीवन का सार-सर्वस्व है। इस सत्य के ज्ञान में कौन हमारे आड़े आता है?—हमारे मन की अपवित्रता वासनाएँ और कामनाएँ। गीता के शब्दों में—

नास्ति बुद्धि रयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

—अर्थात्, जो मन चंचल है, अनियंत्रित है, उसमें आत्मा को पहिचानने की क्षमता नहीं होती। वह फिर कैसे ध्यान कर सकता है? बिना ध्यान के शान्ति नहीं मिलती। और बिना शान्ति के सुख भी कैसे मिले?

हम भले ही शास्त्रों में पढ़ें कि ईश्वर का राज्य हमारे

भीतर है, आत्मा ही हमारा सच्चा स्वरूप है, पर जब तक इस सत्य को हमने बौद्धिक रूप से ही समझा है तब तक उससे हमें कोई लाभ नहीं मिल पाता। अपने यथार्थ स्वरूप की अज्ञता एक प्रत्यक्ष और अपरोक्ष अनुभव है, और वह केवल ईश्वर के प्रत्यक्ष और अपरोक्ष अनुभव से ही दूर हो सकती है। जब तक हमें यह अनुभूति नहीं मिलती और जब तक हमारा मन चंचल बना रहता है तब तक हम सभी अपने अपने दायरे में दुःख-कष्ट भोगते रहते हैं और अपने आप को ईश्वर से तथा एक दूसरे से पृथक अनुभव करते हैं। हमें यह नहीं मालूम है कि पूर्ण ज्ञान, अनन्त प्रज्ञा और असीम प्रेम हमारे अपने ही भीतर है। श्रीरामकृष्ण ने एक समय कहा था, "यदि मैं इस कपड़े को अपने सामने रखूँ तो तुम मुझे नहीं देख पाओगे, यद्यपि मैं तुम्हारे उतने ही समीप हूँ जितना कि पहले था। उसी प्रकार यद्यपि ईश्वर तुम्हारे सबसे समीप है पर अहंकार के पर्दे के कारण तुम उसे देख नहीं पाते।" यह अहंकार 'मैं' और 'मेरे' के रूप में प्रकट होता है; वह इन्द्रिय-विषयों के प्रति हमारी लालसा में प्रकट होता है।

हम इस अहंकार को कैसे दूर करें? शंकराचार्य ने कहा है, "मुक्ति के प्रयत्न में लग जाओ, इससे इन्द्रिय-विषयों के प्रति तुम्हारी आसक्ति नष्ट हो जायेगी।" मुक्ति के दो पहलू हैं — निषेधात्मक और विधेयात्मक। पहले पहलू के अनुसार मुक्ति का अर्थ है दुःख और कष्टों का पूर्ण निरोध और दूसरे के अनुसार उसका मतलब है

ईश्वरीय शान्ति। हम ईश्वर के दर्शन के लिए जितनी तीव्र इच्छा करेंगे, सांसारिक वासनाएँ हमसे उतनी ही दूर हटेंगी। धीरे धीरे हम अनुभव करेंगे कि ईश्वर-साक्षात्कार एक ऐसा महान् खजाना है जिसके सामने दुनिया की हर बात तुच्छ है। यही मतलब है ईसा के इस दृष्टान्त का, जहाँ वे कहते हैं—"स्वर्ग का राज्य खेत में छिपे उस खजाने की तरह है जिसे पाने पर मनुष्य छिपाना चाहता है और उससे मिलने वाले आनन्द के कारण अपना सब कुछ बेच-बाचकर उस खेत को खरीद लेता है।" तब हम ईश्वर के अस्तित्व का साक्षात् स्पर्श अनुभव करते हैं; हमारे हृदय में यह अनुभूति होती है कि हमारे भीतर और सर्वत्र उसके विद्यमान रहने के कारण ही हमारा मन और शरीर कार्य करता है।

किन्तु एक बात हमें जान लेनी चाहिए कि उस खजाने को पाने की तीव्र इच्छा एकदम से ही नहीं हो जाती; हमें धीरे धीरे और धैर्य के साथ उस इच्छा का विकास करना पड़ता है और ऐसा करने के लिए हमें आध्यात्मिक साधनाओं का अभ्यास करना पड़ता है। शंकराचार्य कहते हैं, "अतः मुमुक्षु को सावधानी के साथ चित्त को शुद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए। जब चित्त शुद्ध हो जाता है तब मुक्ति की प्राप्ति करामलकवत् हो जाती है।" ईसा-मसीह ने भी इसी आशय को प्रकट करते हुए कहा है, "शुद्धहृदय व्यक्ति धन्य हैं क्योंकि वे ईश्वर को देखेंगे।" यह शुद्धता बिना प्रयास के नहीं मिल जाती। श्रीरामकृष्ण

ने इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त दिया है—"आध्यात्मिक साधनाओं के अभ्यास के द्वारा भगवत्कृपा से साधक को पूर्णता प्राप्त होती है। प्रयत्न अनिवार्य है; तभी साधक ईश्वर को देख सकता है और उसके आनन्द का रस चख सकता है। यदि किसी ने सुना कि कहीं पर सोना से भरा हुआ घड़ा जमीन में गड़ा है तो वह तुरन्त वहाँ छूट जाता है और जमीन को खोदना शुरू कर देता है। खोदते खोदते वह पसीने से नहा डालता है। काफी कठिन परि-श्रम के बाद जब उसे लगता है कि कुल्हाड़ी से किसी चीज का स्पर्श हुआ तो वह कुल्हाड़ी फेंककर घड़े की खोज करता है। घड़े को देखते ही वह आनन्द से नाचने लगता है। फिर वह घड़ा निकालता है और सोने के सिक्के पाकर निहाल हो जाता है।'

अब विचार करें, हमारी साधनाओं का मुख्य तत्त्व क्या है? यदि मनोविज्ञान की दृष्टि से उत्तर दें तो कहेंगे कि वह है मन की लहरों को अपने अधिकार में लाना। एक समय किसी महात्मा से यह प्रश्न पूछा गया, "दुनिया को किसने जीता है?" उन्होंने उत्तर दिया, "उसने, जिसने अपने मन को वश में कर लिया है।"

मन एक सरोवर के समान है जिसका पानी गँदला है और जो लहरों से क्षुब्ध है। सूर्य की परछाईं उस सरोवर में स्पष्ट नहीं दीखती। इसी प्रकार आत्मसूर्य हममें से प्रत्येक के मानस-सरोवर में प्रतिबिंबित तो होता है पर मन की अशुद्धता के कारण वह प्रतिबिंब स्पष्ट नहीं रहता।

मन की वृत्तियां को शान्त करने पर ही हमारे भीतर का दैवत्व पूर्ण रूप से झलक उठता है।

पर यह कोई सरल काम नहीं है। मन की वृत्तियों के निरोध का तात्पर्य मन के केवल चेतन विचारों का ही निरोध नहीं है वरन् ऐसे विचारों का भी निरोध है जो चेतनावस्था के नीचे विद्यमान रहते हैं। धर्म का मनोविज्ञान हमें मन को—उसके चेतन, अचेतन एवं अवचेतन राज्यों को—पूर्ण रूप से बदल देने की, उसे एकदम नया बना डालने की शिक्षा देता है।

चेतनावस्था में सोचे गए विचार और किए गये कार्य नष्ट नहीं होते। वे संस्कारों को जन्म देते हैं। और ये संस्कार मन के अवचेतन और अचेतन राज्यों में जाकर संचित हो जाते हैं। इन संचित संस्कारों के कारण ही स्मृति-क्रिया संभव होती है। इन संस्कारों का कुल योग ही चरित्र कहलाता है। और हमारा चरित्र,दूसरी ओर,काफी दूर तक हमारे चेतन मन का नियंत्रण करता है; वह हमें उन्हीं विचारों और कार्यों की वे भले हों या बुरे - भविष्य में पुनरावृत्ति करने को प्रेरित करता है। अपने चरित्र को, अपने समूचे अतीत को—केवल इसी जीवन के नहीं बल्कि पिछले जन्मों के भी अतीत को—पूरी तरह बदल डालना होगा। मन के नवीनीकरण या उसके पूर्ण निरोध का मतलब है उसे चेतना के समस्त विषयों से शून्य कर देना।

मन के इस प्रकार निरोध या शून्य करने को पाश्चात्य देशों में बहुत गलत ढंग से समझा गया है। कई लोगों

की धारणा है कि ध्यान में उन्हें अपने मन को शून्य बना लेना चाहिए, उन्हें अचेत हो जाना चाहिए। यदि यही मतलब होता तब तो हम रोज ही गाढ़ी नींद में जाकर अचेत रहते हैं, पर इससे आत्मा का दर्शन नहीं हो जाता। अतः तात्पर्य यह है कि हमें अचेत हुए बिना ही मन को चेतना के समस्त विषयों से शून्य कर लेना चाहिए। तब हमें उस निर्विषय शुद्ध चैतन्य की प्रतीति होती है जो आत्मा ही है।

हम यह करें कैसे ? मन का निरोध कैसे हो ? प्रत्येक साधक को इस समस्या का सामना करना पड़ता है। जिन्होंने मन की लहरों को शान्त करने का कुछ प्रयत्न किया है, वे अर्जुन की कठिनाई को समझ सकते हैं, जब अर्जुन शिकायत करते हुए कृष्ण से गीता में कहते हैं :—

चांचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि वलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

—अर्थात्, हे कृष्ण ! मन बड़ा चंचल है; वह उन्मत्त हाथी के समान मतवाला है। उसको वश में लाना मैं वायु को पकड़ने के समान दुष्कर मानता हूँ। उत्तर में श्रीकृष्ण कहते हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहम् चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येन च गृह्यते ॥

—निश्चय ही, महाबाहो, मन बड़ा दुर्जय और चंचल है; तथापि, कौन्तेय, वैराग्य और अभ्यास के सहारे उसे वश मे लाया जा सकता है।

यह अभ्यास है क्या ? वह है ध्यान का अभ्यास, मन को उसकी वासनाओं और प्रवृत्तियों की ओर न जाने देकर ईश्वर की ओर मोड़ने का अभ्यास। यह बाहर की दुनिया बड़ी आकर्षक है और मन सहज ही उसकी ओर दौड़ने लगता है। एक युवक किसी सुन्दर लड़की के चेहरे पर पूरी तरह ध्यान कर सकता है। पर यदि वह एक बार अपने मन को इन आकर्षणों से छुड़ा सके और उसे ईश्वर पर लगा सके तो उसे वहाँ कहीं अधिक आकर्षण मालूम होगा; क्योंकि बाहरी जगत् में दिखाई देने वाली सुख और सौंदर्य की समस्त अभिव्यक्तियाँ उस ईश्वर की ही अस्पष्ट परछाइयाँ हैं। यह ईश्वर ही समस्त सौंदर्य और आनन्द का केन्द्र है। यदि एक बार वह दैवी आकर्षण लग जाये तो ध्यान सहज हो जाता है।

लोग सोचते हैं कि 'मन का संयम', 'आध्यात्मिक साधना' और 'वैराग्य का अभ्यास' बड़ी भयंकर और कठिन चीजें हैं। वे नहीं जानते कि आध्यात्मिक जीवन में कितना आनन्द, कितना स्वातंत्र्य है। यदि हम अपने मन को ईश्वर में केन्द्रित करने का तनिक सा भी प्रयत्न करें तो हमें उसके आनन्दघन अस्तित्व का स्वाद मिल जायेगा।

वैराग्य का अभ्यास किसे कहते हैं ? निषेधात्मक रूप से यदि उत्तर दिया जाय तो उसका अर्थ है अपने क्षुद्र स्वार्थ का त्याग करना, 'मैं' और 'मेरे' की भावना को दूर करना। उसका विधेयात्मक रूप भी है और वह है यम-

नियम का अभ्यास। यम-नियमों के अन्तर्गत अहिंसा (किसी को भी विचार, शब्द या कर्म के द्वारा चोट न पहुँचाना), सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य आदि आते हैं। ये सार्वभौम साधन हैं जिनके द्वारा चित्त की शुद्धि की जा सकती है। हो सकता है कि हम कई बार असफल हों पर इससे हमें हिम्मत नहीं हारनी चाहिए। लगे रहो! एक समय मेरे गुरुदेव स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने मुझसे कहा था, "क्या तुमने कभी तुरत पैदा हुए किसी बछड़े को देखा है? वह बारम्बार खड़ा होने की कोशिश करता है; भले ही वह कितनी बार गिरे, पर वह प्रयत्न नहीं छोड़ता। अन्त में न केवल वह खड़ा होता है बल्कि दौड़ने लग जाता है।" इसी प्रकार हमें भी अध्यवसाय के साथ अपनी आध्यात्मिक साधना में लगे रहना चाहिए, और यदि हम ऐसा करते हैं तो लक्ष्य तक पहुँचेंगे ही।

हमें कुछ आदतें बना लेनी चाहिए। चरित्र है क्या? जैसा हमने देखा, चरित्र हमारी आदतों का समूह है, हमारे अतीत विचारों और कर्मों का कुल योग है। हम इस चरित्र को कैसे बदल सकते हैं? नई प्रकार की आदतें बनाकर। यह सत्य है कि मन अतीत में हमारे द्वारा बनाई गई प्रवृत्तियों और विशिष्टताओं द्वारा प्रभावित होता है। यह अनुभव की बात है। बहुधा हम पूरी तरह जानते हैं कि ठीक क्या है, पर हम वैसा करने में असमर्थ होते हैं। हम बदलना चाहते हैं पर अपने आपको अपने अवचेतन मन का असहाय गुलाम पाते हैं। तिस पर भी हममें से

प्रत्येक में कुछ सीमा तक इच्छा - स्वातंत्र्य है और वही हमारी आत्मा का मुख्य स्वभाव है। यदि वह स्वातंत्र्य न होता तो किसी के लिए भी कोई आशा न रहती, जीवन रहने योग्य न होता। पर इस इच्छा - स्वातंत्र्य के कुछ कण हममें से प्रत्येक में हैं—हम कितने ही कमजोर और अज्ञान क्यों न हों। यदि हम आध्यात्मिक साधनाओं के अभ्यास के द्वारा इस इच्छा - स्वातंत्र्य को सुदृढ़ करें और नई आदतें बनाने का प्रयास करें तो यही स्वतंत्र इच्छा हमें मुक्ति की ओर ले जायेगी।

पहली आदत जो सबसे आवश्यक है वह है शारीरिक और मानसिक स्वच्छता। हमें यह अनुभव करने का प्रयास करना चाहिए कि हमारा मन पहले से ही शुद्ध है, पर स्मरण रहे कि इसके पीछे अहंकार की कोई भावना न हो। आखिर यह सत्य ही तो है कि ईश्वर सबमें विरा-जित है; तब भला अपवित्रता कहाँ रह सकती है? मेरे गुरुदेव ने एक बार कहा था, "पाप? पाप तो केवल मनुष्य की आँखों में रहता है। लोग अपने दुष्कर्मों का फल भोगते हैं। परन्तु यदि ईश्वर की तनिक सी भी कृपा उनपर हुई तो उनके पाप रुई की ढेरी के समान भस्म हो जाते हैं।" जैसा हम सोचते हैं वैसा बनते हैं। यदि हम सोचें कि हम पवित्र हैं तो पवित्र ही बन जायेंगे।

हम जिस किसी भी परिस्थिति में क्यों न हों, हमें अपने में संतोष की आदत डालनी चाहिए।

हमें अध्ययन की भी आदत डालनी चाहिए - इसे

स्वाध्याय कहते हैं। स्वाध्याय के अन्तर्गत प्रार्थना, भगवान् के नाम का कीर्तन तथा शास्त्रों का अध्ययन आता है।

प्रत्येक दिन हमें अपने कर्मों के फलों को ईश्वर-समर्पित कर देना चाहिए। संन्यासी हो या गृहस्थ, प्रत्येक को अपना कर्त्तव्य करना चाहिए। यदि वह अपने कर्म-फल भगवान् को सौंपता है तो उसका कर्म उपासना बन जाता है; वह फिर उसे नहीं बाँधता बल्कि मुक्ति की ओर ले जाता है।

जैसा हमने पहिले ही निर्देश किया है, ईश्वर सम्बन्धी अपने आदर्श पर ध्यान करने की नियमित आदत बना लेनी चाहिए। यदि हम मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से विचार करें तो ध्यान की प्रक्रिया के अभ्यास की तुलना मेज से बँधी हुई स्याही की दावात को खाली करने की समस्या से की जा सकती है। तुम दावात को उठाकर उसकी स्याही को खाली नहीं कर सकते बल्कि दावात में स्वच्छ जल ढालते जाते हो और स्याही अपने आप बाहर आती जाती है। इस भाँति सारी स्याही बाहर निकल जाती है और अंत में दावात स्वच्छ जल से भर जाती है। ठीक इसी भाँति चेतना के विषयों को निकाल फेंकने से ही मन खाली नहीं हो जाता; बल्कि ईश्वरचिन्तन रूपी स्वच्छ जल को मन में ढालते रहो; देखोगे, मैल बाहर निकल जायेगी और अंत में भगवत्-चिंतन से मन पूरी तरह भर जायेगा।

जब साधक पहले पहल ध्यान का अभ्यास करता है तो उसे ऐसा लगता है कि वह अच्छा होने के बदले बुराई की ओर जा रहा है। कुछ समय के लिए उसका मन

पहिले से अधिक चंचल और अशुद्ध दिखाई देता है। इसका कारण यह है कि हम ध्यान के द्वारा समूचे मन को ही मथ डालते हैं। अचेतन और अवचेतन संस्कार मन के चेतन स्तर पर उठने लगते हैं। दूसरे शब्दों में स्याही बाहर निकलने लगती है। उसे बहने दो और अपने ध्यान के अभ्यास में दृढ़तापूर्वक लगे रहो। देखोगे स्वाभाविक रूप से धीरे धीरे मन स्वच्छ हो जाएगा।

धर्म के मनोविज्ञान का यह बड़ा लाभ है कि इस प्रकार मन को स्वाभाविक रूप से धीरे धीरे स्वच्छ बनाते हुए साधक अपने व्यक्तित्व को परिपूर्ण बना लेता है। वह कुंठाओं से ग्रस्त नहीं होता और न अपने माता-पिता को ही अपनी मानसिक ग्रंथियों के लिए दोषी ठहराता है। वह तो ईश्वर के अपने आदर्श पर ध्यान लगाने में ही व्यस्त रहता है। जैसे जैसे वह उस महान् आलोक की ओर बढ़ता है, अंधकार उसे छोड़ने लगता है। वह ईश्वर चिंतन में अधिकाधिक आकर्षित हो जाता है। और जैसे जैसे वह ईश्वर का चिंतन करता है, उसके भीतर सतत स्मरण उठने लगता है। जब वह इस अवस्था में पहुँचता है तब वह अबाधित रूप से ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव करने लगता है। तभी ईश्वर के विज्ञान का दरवाजा खुलता है और वह शाश्वत शान्ति और आनन्द का अधिकारी हो जाता है।

— 'वेदान्त एंड दि वेस्ट' से साभार।

श्रीराम कृष्ण और आज का धर्म

श्रीमत् स्वामी निखिलानन्द जी महाराज, अमेरिका

हमारे समय में श्रीरामकृष्ण भारत में तथा इतर देशों में देवमानव के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उन्होंने ईश्वर की साक्षात् अनुभूति की थी तथा उस अनुभूति के द्वारा लोगों की आध्यात्मिक शंकाओं का निवारण किया था। उन्होंने ईश्वर के सम्बन्ध में न तो कोई बौद्धिक मीमांसा की थी और न उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण ही दिया था। किन्तु उनके समीप कुछ ही क्षणों के लिए उपस्थित होनेसे, उनके वचनों और भजनों को सुनने से और उनकी भाव समाधि को देखने मात्र से लोगों का मन अलौकिक भूमिका में प्रतिष्ठित हो जाता था। कुछ भाग्य-शाली जिज्ञासुओं को तो उन्होंने केवल 'देखो' यह कहकर ही ईश्वर की अनुभूति करा दी थी।

कुछ लोग तर्क के द्वारा ईश्वर को समझने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु तर्क के द्वारा ईश्वर का संकेत ही मिल सकता है। कुछ लोग प्रकाश, समुद्र, आकाश तथा अन्य भौतिक वस्तुओं मे प्रतीक के माध्यम से ईश्वर की उपासना करने का प्रयास करते हैं। ऐसी उपासना से केवल बौद्धिक आवेग ही मिल सकता है। किन्तु यदि इससे अधिक गहराई में पैठने की कोशिश नहीं की जाती है तो समस्त धार्मिक प्रयत्नों का अंत हो जाता है। धर्म साक्षात्कार है।

वह संसार के स्रष्टा के साथ परम आत्मीयता की अनुभूति है मानो वह हमारा पिता, माता, बन्धु, प्रियतम और अन्तरात्मा हो। जब इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाता है तब व्यक्ति के संदेह विलीन हो जाते हैं और वह प्रशांति और आनन्द का अनुभव करने लगता है। ईसाई धर्म, हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म का महायान सम्प्रदाय अपने साधक को इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करने में सहायता करते हैं। भक्त ईश्वर को मानवीय रूप में कल्पित कर उससे अनन्य भाव से प्रेम कर सकता है। ऐसा क्यों होता है? क्योंकि हम मनुष्य हैं, हमारा स्वभाव मानवीय है। जब तक हमारा मानव-भाव जागृत रहता है तब तक हम ईश्वर की कल्पना मनुष्य के अतिरिक्त किसी अन्य रूप में नहीं कर सकते। सुनो, इस सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण क्या कहते हैं।

क्या तुम ईश्वर को खोज रहे हो? तो उसे मनुष्य में खोजो। उसका देवत्व अन्य वस्तुओं की अपेक्षा मनुष्य में ही अधिक प्रकाशित होता है। एक ऐसे व्यक्ति की तलाश करो जिसका हृदय ईश्वर के प्रेम में लबालब भरा हुआ है—जो ईश्वर में ही रहता है, घूमता है और जीता है और जो उसीके प्रेम में पागल है। ऐसे ही व्यक्ति में ईश्वर अवतरित होते हैं।

मान लो कोई गाय ईश्वर के सम्बन्ध में सोचना चाहती है। वह उसकी कल्पना एक बड़े गाय के रूप में करेगी। या कोई मछली यदि ईश्वर की कल्पना करे तो वह उसे

एक बड़ी मछली के रूप में देखेगी। किन्तु जब हम आध्यात्मिक साधना के द्वारा अपने ससीम मानवीय स्वभाव के ऊपर उठकर अपने को आत्मा के रूप में जानने लगते हैं तभी हम ईश्वर को ब्रह्म के रूप में देख सकते हैं। यह आध्यात्मिक नियम है।

ईश्वर के अवतार की धारणा मानव-मन की सृष्टि नहीं है। जिसप्रकार यह जगत् सत्य है, इसके नक्षत्र और ग्रह सत्य हैं, उसीप्रकार अवतार भी सत्य होता है। किन्तु चरमानुभूति में जब ग्रह, नक्षत्रों और संसार का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता तब अवतारों का भी अस्तित्व नहीं रहता और केवल ब्रह्म की ही सत्ता दिखाई देती है। वह ब्रह्म क्या है ? उसे न तो हमारी इंद्रियाँ जान सकती हैं और न उसका अनुमान हमारी मेधा ही लगा सकती है।

दो प्रकार के लोग ईश्वर के अवतार पर विश्वास नहीं करते। एक तो वे लोग जो कट्टर भौतिकतावादी होते हैं तथा जिनके हृदय में संसार के अन्तराल में स्थित आध्यात्मिक सत्ता की चेतना नहीं जागती और दूसरे वे महात्मा, जिन्होंने जड़-चेतन और ईश्वर से अपना तादात्म्य स्थापित कर लिया है। महात्माओं को अवतार की आवश्यकता नहीं पड़ती।

ऐसा कहा जाता है कि ईश्वर संसार को बिना अपनी गवाही के कभी नहीं छोड़ता। वह समूची सृष्टि में ब्रह्म और चेतना के रूप में व्याप्त है। किन्तु जब संसार में आध्यात्मिक मूल्य पतित हो जाते हैं और पाशविकता बढ़ती जाती है तब

ईश्वर का विशेष अवतार आवश्यक हो जाता है। जब लोग इंद्रिय ग्राह्य जगत् को ही एक मात्र सत्य समझने लगते हैं तथा उसके बाहर कुछ भी नहीं सोचना चाहते, तब अपार करुणामय ईश्वर आध्यात्मिक मूल्यों की संस्थापना करने के लिए मानव-देह धारण करते हैं।

आज की दुनिया विभ्रम और व्यग्रता की स्थिति से गुजर रही है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से युक्त बौद्धिक वर्ग में आज असंतोष और हताशा के भाव देखे जा सकते हैं। ये लोग या तो ईश्वर को मानते ही नहीं अथवा उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में संदेह करते हैं इस विभ्रम का क्या कारण है? इसका सबसे सरल उत्तर, जो वास्तव में सत्य है यह है कि आज आस्थाहीनता पनप रही है। आज हम आध्यात्मिक संक्रान्ति के दौर से गुजर रहे हैं। इस आस्था-हीनता का क्या कारण है? इसका सबसे सरल उत्तर, जो पुनः वास्तव में सच है यह है कि इसका कारण विगत तीन सौ वर्षों में विकसित विज्ञान और उसकी निष्पत्तियाँ हैं। अमेरिका, यूरोप, रूस, चीन या भारत सभी स्थानों के वैज्ञानिक या तो ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते या उसके विषय में संदेह रखते हैं।

विज्ञान के उदय के पहले पश्चिमी जगत् में एक दूसरा ही बातावरण था। धार्मिक दृष्टिसे पश्चिम एक था। मध्ययुग में यूरोप को क्रिस्तानिस्तान या ईसाइयों का देश कहा जाता था। वे ईश्वर की पूजा पिता के रूप में करते थे। ईश्वर स्वर्ग में रहता था तथा ईसा संसार में

उसका प्रतिनिधि था। वे ईश्वर को जगत् का नियामक और नैतिक नियमों का मूल स्रोत समझते थे। ईश्वर ही उचितानुचित का निर्णय करता था। उनका यह भी विश्वास था कि अंत में उचित की ही जीत होगी। सांसारिकता में फँसे हुए लोगों को आनन्द और शांति से परिपूर्ण स्वर्ग के विचार से एक शक्ति मिलती थी, आशा और साहस प्राप्त होता था। चर्च के उपदेश उस युग के लोगों के जीवन का नियमन करते थे तथा उनकी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति करते थे।

ईसाई धर्म ने एक महान् संस्कृति का निर्माण किया था। पश्चिमी जगत् के अनेक स्मारकों और गिरजाघरों में, आत्मा को उद्बुद्ध कर देने वाले संगीत और सत्साहित्य में ईसाई धर्म का प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई देता है। विज्ञान के उदय के पहले सारा यूरोप विचार, कार्य और आचार की दृष्टि से एक था। सभी ईसाइयों को एक ही प्रकार की शिक्षा दी जाती थी फिर चाहे वे राजकुमार हों या रईस हों या लिपिक हों। वहाँ लैटिन ही एकमात्र पवित्र भाषा थी। उनका नीति शास्त्र बाइबिल पर आधारित था ऐसे तो आपस में युद्ध होते रहते थे पर व्यक्ति के जीवन में आंतरिक स्थिरता थी। चिरन्तन प्रेम को जान लेने के कारण पारिवारिक जीवन सुखद हो गया था। लोग प्रेम कर सकते थे तथा प्रेम पा सकते थे। सभी लोग समाज में अपनी स्थिति और अपने कर्तव्यों को जानते थे, इसलिए वहाँ स्थिरता थी। दार्शनिक एक ही चिरन्तन सत्य की

बात करते थे तथा धर्म एक अद्वितीय ईश्वर का ही बखान करता था। ईसाई चर्च बहुत लम्बे समय तक प्रचण्ड शक्ति का उपभोग करता रहा और इसीसे उसका पतन भी हुआ। उसने मनुष्य की चिन्तन-क्षमता को नियंत्रितकरके उसकी विचारणा की शक्ति को कुण्ठित कर दिया। ऐसी स्थिति में बौद्धिक वर्गने एक नई दिशा में विचार करना प्रारम्भ किया। वह मनुष्य को समझने के लिए तर्क का सहारा लेने लगा।

यह नया आन्दोलन ३०० वर्ष पूर्व न्यूटन, कापर्निकस और गेलीलियो के आगमन के साथ प्रारम्भ हुआ। उनके पश्चात् अन्य प्रतिभाशाली वैज्ञानिकों की मानो कड़ियाँ जुड़ गईं। उनके अविष्कारों ने मनुष्य के विचारों में धीरे धीरे क्रांति करना शुरू कर दिया। विज्ञान के किसी एक आविष्कार ने यह परिवर्तन उपस्थित नहीं किया था। मानवीय विचारों के क्षेत्रमें, आधुनिक युग में, हमें जिस क्रांति का आभास होता है वह विगत तीन सौ वर्षों में हुए वैज्ञानिक विकास का समग्रगत परिणाम है। उस समय के सभी वैज्ञानिक न तो नास्तिक थे और न संदेह-वादी ही। कहा जाता है कि सर ईसाक न्यूटन वृद्धावस्था में एक धार्मिक पुस्तक की मीमांसा लिख रहे थे।

वैज्ञानिक खोज की कुल निष्पत्ति क्या है? गतिशील जड़ पदार्थ ही विश्व है। यह विश्व जड़, भौतिक नियमों से अनुशासित होनेवाले स्थूल भौतिक पदार्थों से बना है। विश्व में किसी विवेकी स्रष्टा के लिए स्थान नहीं है। विश्व-

प्रक्रिया का कोई अंतिम लक्ष्य नहीं है। यह धर्म पर भयंकर कुठाराघात करता है। संसार कोई मैत्रीपूर्ण जगह नहीं है। वह आध्यात्मिकता से सर्वथा रिक्त है। भौतिक नियम मूल्यपरक नहीं हैं। विकासवादी प्रकृति को पाशविक और बर्बर समझते हैं। हमारे सभी परम्परागत धर्मों का सार यह है कि जीवन का एक निश्चित लक्ष्य है तथा वह एक नैतिक नियम के अनुसार चल रहा है। संसार में होनेवाले सभी अनुभव, चाहे वे सुखद हों या दुखद, आत्मा की मुक्ति में सहायता करते हैं।

विज्ञान ने विश्व की भौतिकतावादी व्याख्या करके धर्म के हृदयस्थान पर आघात किया है। प्रायः इसप्रकार का दृष्टिकोण रखनेवाले वैज्ञानिक या तो नास्तिक होते हैं या संदेहवादी या आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति तटस्थ। कोई यह कह सकता है कि केवल कुछ ही लोग वैज्ञानिक दृष्टिकोण से युक्त होते हैं तथा थोड़े से बौद्धिक व्यक्ति ही इस प्रकार के विचार रखते हैं। तो उत्तर में कहा जा सकता है कि जैसे जैसे शिक्षा का प्रसार होगा और समाचार-पत्रों, टेलीविजन, रेडियो आदि संप्रेषण के साधनों में वृद्धि होगी, वैसे ही वैसे सामान्य जनता भी इसप्रकार के विचारों को अपनाने लगेगी।

धर्म अर्थहीन और उद्देश्यहीन संसार में नहीं पनप सकता। ऐसे संसार में लोग अपने लोभ और अपनी भौतिक इच्छाओं को तुष्ट करने के लिए अधिकार प्राप्त करने में जुट जाते हैं। यह सत्य है कि लोग आज भी चर्च

जाते हैं, किन्तु कुछ तो अपनी आदत के कारण और कुछ दूसरों की देखा-देखी। वे चाहते हैं कि पादरी उन्हें बताए कि उन्हें क्या करना चाहिए। जैसे जैसे जनता के बीच विज्ञान का प्रसार होगा वैसे वैसे यह सब कुछ बदल जाएगा। विज्ञान हमारे जीवन के केन्द्र को ही खोखला बना रहा है इसीलिए व्यक्ति को चारों ओर केवल अर्थ-हीनता, हताशा, उद्देश्यहीनता और बेचैनी दिखाई देती है। यही सब आधुनिक कला, कविता और साहित्य में भी प्रकट हो रहा है। वैज्ञानिक चिंतन का अंत है हद दर्जे की विवेकहीनता।

मनुष्य का विघटन विज्ञान का दूसरा परिणाम है। यह बड़ी भयानक बात है। व्यक्ति अपने पड़ोसियों और अन्य लोगों से दूर हटता जा रहा है। वह आज चिकित्सकों, जीवाणुशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों के खण्डशः अध्ययन की चीज बन गया है। इसका क्या नतीजा हुआ ? आत्मा का तिरस्कार तथा व्यक्तित्व का खोखलापन। इसीलिए चारों ओर खोखलेपन की अनुभूति होती है और ऐसा लगता है मानों मनुष्य के दिमाग को लकवा मार गया है। संवेदनशील कवि टी० एस० ईलियट को इसी का बोध हुआ है। वे लिखते हैं :—

"हम खोखले आदमी हैं
हम घुटे हुए आदमी हैं
एक दूसरे पर लदे हुए
हमारे सिर में कूड़ा भरा हुआ है !

जब हम एक दूसरे से फुसफुसाते हैं
तब हमारी घुटी हुई आवाजें
बिलकुल निरर्थक और सारहीन होती हैं
मानों हवा सूखी घास पर सरसरा रही हो
या शीशे के टुकड़ों पर चूहे चल रहे हों
हमारे सूखे तहखाने में
आकारहीन रूप है
रंगहीन वर्ण है
कुंठित शक्ति है
गतिहीन हलचल है।"

अतः, गतिशील जड़पदार्थों के इस उद्देश्यहीन संसार में जब कोई विचारवान नेता नहीं रहता तब नैतिक नियम सापेक्षिक बन जाते हैं। जब ईश्वर पर से विश्वास हट जाता है तब नैतिकता को मनुष्य का आविष्कार माना जाता है और तब वह हमारी रुचियों और अरुचियों की अभिव्यक्ति हो जाती है। अच्छा वह होता है जो हमारी इच्छाओं को संतुष्ट करे और हमारे स्वार्थ की सिद्धि करे। बुरा वह होता है जो हमारी इच्छाओं को कुण्ठित करता है और हमारे स्वार्थ का विरोध करता है। आज शुभाशुभ का निर्णय करने के लिए कोई निरपेक्ष मानदण्ड नहीं रह गया है। अणवास्त्रों के युग में एक समूचा देश एक दूसरे देश के तथाकथित हित के लिए नष्ट किया जा सकता है; और इस दूसरे देश के हित की परीक्षा कौन करता है? मुट्ठी भर राजनीतिज्ञ अथवा सेनापति।

आत्मा को नकारने के साथ ही स्वतंत्र इच्छाशक्ति पर भी सन्देह किया जाता है। हमारा कार्य कारणों की शृंखला के द्वारा ही परखा जाता है। मनुष्य को ग्रंथियों, वंशानुक्रम, शिक्षा और वातावरण के द्वारा नियमित माना जाता है। हम जो कुछ करते हैं उसका उत्तरदायित्व हमपर नहीं होता। मनुष्य के स्वभाव को बदलने के लिए औषधि-विज्ञान ने गोलियों और इंजेक्शनों का पता लगाया है। जहाँ सन्तों और पैगम्बरों के वचन असफल हो गए वहाँ अब गोलियाँ और इंजेक्शन सफल होंगे।

विज्ञान की अच्छाइयों पर संदेह नहीं किया जा सकता। विज्ञान के द्वारा मानवकल्याण के क्षेत्र में किए गए कार्यों को हम देख रहे हैं। विज्ञान की अभूतपूर्व प्रतिष्ठा उसकी वैज्ञानिक पद्धति और यंत्र-विज्ञान पर आधारित है। तर्क ने प्राकृतिक घटनाओं से सम्बन्धित अनेक अंधविश्वासों को उखाड़ फेंका है जिनके सम्बन्ध में धर्म ने अनेक अलौकिक, प्रमाणहीन कारण प्रस्तुत किये हैं। पृथ्वी की गति, वर्षा और आँधी को समझने के लिए अप्राकृतिक कारणों को बताना आवश्यक नहीं है। यंत्रविज्ञान गरीबी, अशिक्षा और अकालमृत्यु की समस्या का समाधान कर, मानव कल्याण में अनेक प्रकार से योगदान दे रहा है। रोगों की रोकथाम की जा रही है। दूरियाँ खत्म हो रही हैं। किन्तु विज्ञान की सीमाओं को भी स्वीकार करना होगा। स्वयं वैज्ञानिक यह मानते हैं कि बुद्धि सभी घटनाओं की व्याख्या नहीं कर सकती। वह एक अच्छाई ढूढ़ने के साथ

दो बुराइयों को भी ढूँढ़ लाती है। यहाँ तक कि विज्ञानों की साम्राज्ञी गणित भी त्रुटिहीन नहीं है। विपुल उत्पादन, संप्रेषण के साधनों की बहुलता और व्यापक विज्ञापन यंत्रविज्ञान के ही प्रतिफल हैं। इससे संसार में कुरूपता और विरसता की ही सृष्टि हुई है। हमारे सिर पर समूह जनसंहार का भय छाया हुआ है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि विज्ञान के आविष्कार स्वयं में लक्ष्य नहीं हैं अपितु लक्ष्य की प्राप्ति के साधन हैं।

आधुनिक मानवीय परिस्थितियों का सार यह है कि जीवन नीरस हो गया है और व्यक्ति इंद्रिय सुख भोगों के द्वारा उद्वेग की अनुभूति करना चाहते हैं। बहुत से लोग जो ईश्वर पर विश्वास नहीं करते, विज्ञान को ही ईश्वर के द्वारा भेजी गई चीज समझते हैं और जीवन की भौतिकतावादी दृष्टि को पुष्ट करने के लिए उसका स्वागत करते हैं। सभी लोगों में अवसाद घर कर गया है। समाज की बुद्धिमती स्त्रियाँ, बच्चों के बड़े हो जाने पर, संगीत और नृत्य सीखने लगती हैं या विश्वविद्यालय में भरती हो जाती हैं। सेवानिवृत्त व्यक्ति विरसता से छुटकारा पाने के लिए अनेक अभिरुचियाँ (hobbies) पैदा कर लेते हैं। परिवार में रेडियो और टेलीविजन का तो पहले से ही एक विशिष्ट स्थान है। विज्ञान के इस अणु युग में जड़जगत् या विचारजगत् के क्षेत्र में मानवीय उपलब्धियों की प्रवंचना बड़ी सरलता से देखी जा सकती है। जीवन सपनों और द्वंद्वों से भर गया है:

"सपने के बाद सपने
संघर्ष के बाद संघर्ष
जब तक मौत काट नहीं देती
जीवन के जाल को।"

विचारशील व्यक्ति भ्रम को दो प्रकारों में देखते हैं, मुख्य भ्रम जिसको त्यागा जा सकता है; और दूसरा गौण भ्रम जिससे चिपका जा सकता है। वे ईश्वर, आत्मा और भविष्य को मुख्य भ्रम मानते हैं, और कला एवं संगीत के विकास और अच्छे परिवार और समाज के निर्माण को गौण भ्रम समझते हैं। आधुनिक काल का एक ही युद्ध सब कुछ नष्ट कर सकता है। किन्तु आधुनिक मनुष्य इसी भ्रम में पड़ा हुआ है। इसके सिवाय वह और कर ही क्या सकता है ?

दुनिया के इस जेलखाने से छूटने के लिए लोग तीन अलग-अलग रास्ते अपनाया करते हैं—ऊपर का रास्ता, बगल का रास्ता और नीचे का रास्ता। कोई व्यक्ति कला, संगीत, साहित्य या लोक कल्याण के कार्य में लीन होकर दुनिया के बगल वाले रास्ते से मुक्त होना चाहता है। निचला रास्ता शराब पीने, नाचने और इंद्रिय भोगों को अपनाने का रास्ता है। ये सब अस्थायी संतोष प्रदान करते हैं। इनका प्रभाव क्षणिक होता है। इसके बाद ही दुःख और नीरसता का सिलसिला जारी हो जाता है। यथार्थ मुक्ति मन की ऊर्ध्व गति के द्वारा मिल सकती है। पैगम्बरों और मसीहाओं ने इस पथ का निर्देश किया है।

श्रीरामकृष्ण इनमें से एक हैं। आइये, हम संसार के आधुनिक परिस्थितियों के पटल पर श्रीरामकृष्ण के जीवन और उपदेशों को देखें।

श्रीरामकृष्ण ने मानवता के जलते हुए स्थान पर अँगुली रखी थी। उन्होंने इसे माया कहा था। माया में कामिनी-कांचन, अधिकार लोभ तथा प्राप्ति की आकांक्षा भरी रहती है। धन अधिकार-लोभ का प्रतीक है तथा काम-वृत्ति प्राप्ति की आकांक्षा का द्योतक है।

सभी धर्मों ने ईश्वर के पास पहुँचने की राह बताई है, किन्तु हम आज के युग में उसका प्रत्यक्ष प्रदर्शन चाहते थे। यह श्रीरामकृष्ण ने किया है। उन्होंने ईश्वर की सत्ता को प्रदर्शित किया है। जब युवक स्वामी विवेकानन्द ने उनसे पूछा, "महाशय, क्या आपने ईश्वर को देखा है?" तब उन्होंने तत्काल ही उत्तर दिया, "हाँ मैंने ईश्वर को देखा है। मैंने उसे इतनी ही स्पष्टता से देखा है कि जितनी स्पष्टता से मैं तुम्हें देखरहा हूं। मैंने ईश्वर से ऐसे ही प्रत्यक्ष रूप से बातचीत की है जैसे मैं तुमसे कर रहा हूँ।" श्रीरामकृष्ण ने फिर बताया कि सभी निष्ठावान् आत्माएँ ईश्वर को देख सकती हैं और अज्ञान से मुक्त हो सकती हैं।

श्रीरामकृष्ण का जन्म सन् १८३६ में बंगाल के एक सामान्य गाँव में हुआ था। उनके माता-पिता ईश्वर-भीरु और निष्ठावान थे। ऐसे तो उनका पालन-पोषण दरिद्रता के वातावरण में हुआ था किन्तु वहाँ असंतोष नहीं था। उन्हें एक असाधारण मस्तिष्क मिला था। उनका मन जन्म

से ही ईश्वर की ओर झुका हुआ था। पर साथ ही, वे बड़े हँसमुख और परिहासप्रिय थे।

पढ़ाई-लिखाई से उनका कोई लगाव नहीं था। जब उनके भाई ने उन्हें पढ़ाई-लिखाई में अपना मन लगाने का आग्रह किया तब उन्होंने कहा, "भैया, मैं रोटी-कपड़ा कमाने वाली विद्या पढ़ के क्या करूँगा ?" उन्होंने सांसारिकता में डूबे हुए पंडितों की तुलना चील या बाज पक्षी से की थी जो बहुत ऊँचे तो उड़ती हैं किन्तु जिसकी दृष्टि जमीन पर पड़े हुए माँस के टुकड़े खोजा करती है। इसीप्रकार पण्डित लोग धर्म और दर्शन के विषय में बड़ी बड़ी बातें करते हैं किन्तु उनका मन सदा धन, यश और अधिकार लालसा की कीचड़ में डूबा रहता है। श्रीरामकृष्ण धार्मिक व्यक्तियों के साहचर्य में रहना चाहते थे। उन्हें कीर्तन-भजन बहुत अच्छे लगते थे। वे अपने कुलदेवता की पूजा बहुत भक्ति के साथ किया करते थे। कभी-कभी वे निर्जन स्थानों की ओर निकल जाया करते थे। बाल्यावस्था से ही उन्हें आध्यात्मिक अनुभव होने लगे थे। सोलह वर्ष की आयु में वे कलकत्ता आए और माता भवतारिणी के मंदिर में पुजारी के रूप में काम करने लगे।

श्रीरामकृष्ण जगन्माता को 'मेरी माता' कहा करते थे। जैसे ही वे पूजा करने के लिए बैठते, उनके हृदय के द्वार खुल जाते और भावनाओं का तीव्र प्रवाह बह निकलता, और उस प्रवाह में उनके मंत्र और अनुष्ठान बह जाया करते थे। अत्यधिक व्याकुलता और आंतरिक प्रार्थना ही

उनकी पूजा थी । वे निरन्तर रोते-रोते कहा करते थे, "माँ ! तुम मुझसे अलग होकर कहाँ जा छिपी हो ? मुझे दर्शन दो माँ !" और तब उन्हें जगन्माता की पहली अनुभूति हुई थी। उन्हें ऐसा लगा मानों वे आनन्द के सागर में तैर रहे हों। इस अनुभूति ने उन्हें अन्य अनुभूतियाँ प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया। उनकी पहली ईश्वरानुभूति उन्हें बिना किसी बाहरी सहायता के मिली थी। वह उन्हें आन्तरिक विह्वलता और आन्यंतिक कातरता के माध्यम से प्राप्त हुई थी । अब अनेक पहुँचे हुए गुरु उनकी सहायता करने आए । वे पूरी तरह से ध्यान और अन्य आध्यात्मिक साधनाओं में लग गए। उन्हें न तो खाने की याद रही और न सोने की । उनका बाहरी आचरण पागल के समान दिखता था। इसलिए उनके मन को सामान्य अवस्था में लाने के लिए उनके संबंधियों ने उनका विवाह करने का विचार किया। उन्होंने विवाह तो कर लिया किन्तु यह बड़ा अद्भुत विवाह था । श्रीरामकृष्ण स्त्रियों में जगन्माता के ही अनेक रूप देखते थे। उनकी पत्नी, जिन्हें आज 'श्री श्री माँ' कहा जाता है, कामभाव से सर्वथा दूर थीं। वे श्रीरामकृष्ण के समीप उनके जीवन के अंतिम क्षण तक परिचारिका, शिष्या और सेविका के रूप में उपस्थित रहीं। किन्तु सदैव वे संन्यासिनी बनी रहीं और उनकी आध्यात्मिक साधनाओं की सहभागिनी बन गईं। उन्होंने अपनी आँखों से श्रीरामकृष्ण को आध्यात्मिक ऊँचाइयों में चढ़ते हुए देखा था। श्रीरामकृष्ण ने अपनी पत्नी को इस योग्य

बना दिया था कि वे उनके छोड़े हुए कार्य को पूरा कर सकें। उनके पश्चात् वे उनकी आध्यात्मिक उत्तराधिकारिणी बनीं। श्रीरामकृष्णने उन पर कलकत्ते में कीड़े-मकोड़ों की तरह अंधकार में भटकते हुए लोगों को आलोक प्रदान करने का काम सौंपा था। कलकत्ते के आदमियों से श्रीरामकृष्ण का तात्पर्य वास्तव में उन तथाकथित आधुनिक बुद्धिवादियों से था।

उनके आध्यात्मिक अनुभवों की परिधि बड़ी व्यापक थी। उन्होंने साकार ब्रह्म से लेकर निराकार ब्रह्म तक अपनी अभिन्नता स्थापित कर ली थी। श्रीरामकृष्ण ने ईसा, कृष्ण और राम का दर्शन किया था तथा उन्हें स्वयं में समाहित होते देखा था। उन्होंने ईश्वर के साथ अनेक नाते जोड़े थे और पिता, बालक, सखा एवं प्रियतम के रूप में ईश्वर की उपासना की थी। वेदान्त में वर्णित ब्रह्मके साथ तादात्म्य-स्थापना की चरम साधना में भी वे सफल हुए थे। हमारा सीमित मन यह सोच भी नहीं सकता कि ईश्वर का दर्शन करते समय उन्हें कैसी अनुभूति हुई होगी। वे स्वयं अपनी निगूढ़तम आध्यात्मिक अनूभूतियों को व्यक्त नहीं कर सके। किन्तु वे स्पर्श से अथवा वचनों से ही दूसरों में आध्यात्मिकता का संचार कर सकते थे। उनका सारा जीवन ही बदल गया था। उनका हृदय पूरी तरह से शांत हो गया था और वे सदैव आनन्द का ही वितरण करते थे। यहाँ तक कि कैंसर जैसी असह्य वेदना की बीमारी में भी उनका आनंद और उनकी शांति नष्ट

नहीं हुई थी। वे ईश्वर के सिवाय अन्य किसी विषय पर चर्चा नहीं करते थे। वे आध्यात्मिक भाव में सराबोर होकर गाते नाचते रहते थे। चाहे वे ध्यान में हों या सामान्य अवस्था में, उन्हें सभी समय ईश्वर की उपस्थिति का बोध होता रहता था। वे इच्छा मात्र से ही समाधि में लीन हो सकते थे। उनके समीप केवल उपस्थित होने मात्र से लोगों का मन ऊँचा उठ जाता था। उनका संदेह मिट जाता था। पापीजन साधु पुरुष हो जाते थे।

श्रीरामकृष्ण अपने सच्चे स्वरूप को जान चुके थे। उन्होंने यह भी जान लिया था कि वे किस हेतु इस धराधाम पर आये हैं। उन्होंने अपने बारे में क्या जाना था? अपने देहावसान के कुछ ही दिनों पहले उन्होंने कहा था कि जो पहले राम और कृष्ण के रूप में आया था वही वर्तमान काल में रामकृष्ण के रूप में अवतरित हुआ है। उन्होंने यह भी कहा था कि जो एक भी बार ईश्वर को सच्चे हृदय से प्रार्थना करेगा उसे सत्य की उपलब्धि अवश्य होगी। जिन्होंने उन्हें अपना इष्टदेव माना था, उन्हें उन्होंने अभय प्रदान किया था। उन्होंने किसी सम्प्रदाय का गठन नहीं किया और न किसी नए धर्म का प्रचार ही किया। उन्होंने सभी धर्मों को सत्य घोषित किया। वे समस्त धार्मिक जिज्ञासुओं के लिए मानों संदर्भ-ग्रंथ बन गये। श्रीरामकृष्ण के एक शिष्य ने उनमें दो अद्वितीय गुण देखे थे। एक तो यह कि वे अपार करुणा के सागर थे। कोई भी आध्यात्मिक जिज्ञासु उनके पास से खाली हाथ नहीं

लौटा। दूसरे, उनके शिष्यों ने यह अनुभव किया था कि वे लोग ईश्वर के जिन गुणों की अंतःकरण से पूजा करते हैं वे ही गुण श्रीरामकृष्ण के जीवन में उतरे हुए हैं। श्रीरामकृष्ण ने यह महती घोषणा की थी कि सभी देशों के व्यक्ति, चाहे वे मुसलमान हों या ईसाई या हिन्दू, उनके समीप अपनी चिर आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उपस्थित होंगे। आधुनिक विश्व का आध्यात्मिक उत्थान ही उनका मूल उद्देश्य था।

आज की समस्याओं पर उनके जीवन और कार्यों से कैसा प्रभाव पड़ता है? श्रीरामकृष्ण निरक्षर थे। उनके महान् वचन उनकी साक्षात् अनुभूति से ही निकले थे। इसप्रकार उन्होंने बड़ी दृढ़ता के साथ ईश्वर की सत्यता प्रतिपादित की थी जिसे हम अपनी अज्ञानता के कारण नहीं देख पाते। आकाश में तो दिन में भी तारे चमकते रहते हैं, भले ही हम उन्हें न देख सकें। श्रीरामकृष्ण ने हमें सिखाया कि ईश्वर हमारा स्रष्टा है, हमारा रक्षक है, हमारा पोषक है, हमारा संवर्धक है और हमारा उद्धारक है। वह संसार में व्याप्त चेतना और शक्ति है। उसीके नियमन में भौतिक परमाणु गतिशील होते हैं। श्रीरामकृष्ण ने प्रत्येक वस्तु में ईश्वर के प्रकाशको देखा था। एक दिन पूजा करते समय उन्होंने देखा कि मंदिर का दरवाजा, फर्श, छत, पूजा की वस्तुएँ-सभी में ईश्वरीय शक्ति तरंगायित हो रही है। एक दूसरे दिन जगन्माता की पूजा के लिए फूल चुनते हुए उन्होंने देखा था कि प्रकृति फूलों की माला

के द्वारा प्रभु की पूजा कर रही है। तब से वे फिर फूल नहीं चुन सके। श्री रामकृष्ण ने सीख दी कि ईश्वर के बिना संसार छलना है, माया है। अज्ञानी व्यक्ति वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु के डर से काँपता रहता है। वह इस झूठी आशा से छला गया है कि उसे क्षणभंगुर भौतिक पदार्थों के उपभोग से सच्चे आनन्द की प्राप्ति होगी। किन्तु प्रबुद्ध आत्माओं को यही संसार आनन्द का मेला प्रतीत होता है, जिसे विकासवादी पाशविक और बर्बर कहते हैं।

श्रीरामकृष्ण ने सिखाया कि संसार उद्देश्यहीन नहीं है। यह हमें चरम मुक्ति की सुविधाएँ प्रदान करता है। संसार एक नैतिक व्यायामशाला है जहाँ हम सुख-दुःख के अनुभवों के द्वारा आंतरिक शक्ति प्राप्त करते हैं, निर्लिप्तता का पाठ पढ़ते हैं और अंत में मुक्त हो जाते हैं। श्रीरामकृष्ण संसार से भागे नहीं थे। उन्होंने भौतिक वस्तुओं से आनन्द भी लिया था। वे कभी कभी अजायब-घर, सर्कस और नाटक देखने के लिए कलकत्ता जाया करते थे। किन्तु उन्होंने हमसे भिन्न एक दूसरे ही चश्मे से यह सब देखा था। ईश्वर की अनुभूति ने उनके लिए सभी वस्तुओं को बदल दिया था। उनकी दृष्टि परिष्कृत हो गई थी और उन्होंने सभी घटनाओं में ईश्वर की लीला देखी थी।

श्रीरामकृष्ण ने सिखाया कि आत्मा का अस्तित्व है, आत्मा सत्य है। वह संवेदनाओं का गुच्छा नहीं है। वह देह से अलग है। शरीर तो अनुभवों का संचय करने के

लिए उसका एक यंत्र है। मृत्यु के समय आत्मा देह का त्याग कर देती है और दूसरी देह ग्रहण कर लेती है। देह की मृत्यु से आत्मा का नाश नहीं होता।

भौतिक विज्ञान इंद्रियानुभूति पर आधारित है। इसलिये वह आत्मा और उसकी अमरता को, जो सभी प्रमुख धर्मों की मूलभूत मान्यताएँ हैं, स्वीकार नहीं करता। यदि अमरता मिथ्या है और यदि मृत्यु के बाद सभी चीजें नष्ट हो जाती हैं, तब तो चरममूल्य की दृष्टि से इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता कि कोई वस्तु सत्य है या नहीं है। यदि अमरता को अस्वीकार किया जाता है तो जीवन अर्थहीन हो जाएगा तब तो केवल कुछ क्षणभंगुर सुखों को छोड़कर, क्षणस्थायी कला, संगीत और सामाजिक कार्यों को छोड़कर संसार का कोई मतलब ही न रह जाएगा। यदि मृत्यु को मनुष्य के अस्तित्व की समाप्ति मान ली जाय तब तो व्यक्ति अपनी बारी के लिए उस महान् हन्ता की बाट जोहने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता। और एक दिन जब वह यमराज सिर पर आ चढ़ेगा तो सृष्टि की सबसे प्रचण्ड भूल, इस ऊपर से महान् दिखनेवाले किंतु भीतर से खोखले संसार से वह बिदा ले लेगा। अमरता की भावना से हमारे मन में आत्मा के सम्बन्ध में कुछ अपूर्वता और अनमोलता के भावों का उदय होता है। यदि हम इसे उपेक्षित कर देंगे तो दुनिया की कोई भी चीज़ सारवान् प्रतीत नहीं होगी।

श्रीरामकृष्ण की पाप विषयक धारणा ईसाइयत से

पर्याप्त भिन्न है। अज्ञान ही पाप है, वह आत्मा पर वस्तुतः कोई असर नहीं डाल सकता। वह आत्मा को ढाँक तो सकता है किन्तु उसकी मूलभूत पवित्रता पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। ईश्वरीय आलोक से पाप नष्ट हो जाता है। व्यक्ति इसी देह से पूर्णता की उपलब्धि कर सकता है।

उन्होंने सिखाया कि कुछ परिस्थितियों में भले-बुरे का ज्ञान रखना आवश्यक है। जब तक व्यक्ति का देह भाव बना रहता है तब तक अच्छे-बुरे का भेद नहीं छोड़ा जा सकता। अच्छे-बुरे की पहचान किस आधार पर करें? श्रीरामकृष्ण ने सिखाया कि जो हमें ईश्वर के पास ले जाता है वही अच्छा है तथा जो हमें उससे दूर करता है वह बुरा है। जो मनुष्य-जाति को संगठित करता है वह अच्छा है, और जो मनुष्य को एक-दूसरे से अलग करता है वह बुरा है। नैतिक नियमों का पालन करना बहुत जरूरी है। वह आध्यात्मिक जीवन की नींव है।

श्रीरामकृष्ण मनुष्य की स्वाधीन इच्छाशक्ति को अस्वीकार नहीं करते। यह सत्य है कि अंत में ईश्वर की इच्छा ही सबकुछ निर्धारित करती है। पत्ते का हिलना तक ईश्वर की इच्छा से होता है। किन्तु जब तक मनुष्य ईश्वर का दर्शन नहीं करता और अपने अहं और संसार को ही सत्य 'समझता है तब तक वह अपनी स्वाधीन इच्छा शक्ति को अस्वीकार नहीं कर सकता। ईश्वर ने ही मनुष्य के दिमाग में स्वतंत्र इच्छा शक्ति का पौधा लगाया

है। अन्यथा पाप कर्मों में अतुलित वृद्धि हो जाती। व्यक्ति ईश्वरीय इच्छा के पालन का हवाला देते हुए बड़ी सरलता से पाप कर्मों में लिप्त हो सकता है। स्वतंत्र इच्छाशक्ति की धारणा के कारण ही वह अपनी दुष्ट एवं पाशविक प्रवृत्तियों को त्यागने का प्रयास करता है। आत्मप्रबुद्ध व्यक्ति यह जानता है कि सच्ची स्वतंत्र इच्छा शक्ति ही वास्तव में ईश्वर की इच्छा हैं।

श्रीरामकृष्ण ने सिखाया कि मनुष्य खण्डित प्राणी नहीं है। अदृश्य आत्मा शक्ति मानवीय व्यक्तित्व को एक सूत्र में बाँधे रखती है। शरीर, इन्द्रियाँ और मन मनुष्य रूपी मानसिक-भौतिक इकाई के अंग हैं। वे आत्मा को संसार के बन्धन से मुक्त करने के लिए एक साथ काम करते हैं।

आज आध्यात्मिक पुनरुत्थान के चिह्न दिख रहे हैं। यदि संसार आण्विक, जैविक या रासायनिक युद्ध से बच जाता है और जनसंख्या की बाढ़ के भय से मुक्त हो जाता है तो वह एक नए धर्म की तलाश करेगा। यह धर्म मानव-संगठन और मानव-एकता पर आधारित होगा। यह आत्मा के देवत्व और समस्त धार्मिक आस्थाओं के सत्य की घोषणा करेगा। नया धर्म बुद्ध, कृष्ण, जिहोवा और प्राचीन काल के अन्य धर्म प्रवर्तकों के ईश्वरत्व को स्वीकार करेगा और इसके साथ आने वाले ऋषियों और संतों के स्वागत के लिए अपने मन के दरवाजों को खुला

रखेगा। श्रीरामकृष्ण ने भविष्य के इसी धर्म की सीख दी थी और स्वामी विवेकानन्द ने इसी को आधुनिक भाषा में प्रतिपादित किया था।

ऐसा लगता है कि श्रीरामकृष्ण के अवतरण के साथ ही मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना भी जागृत हो गई है। यही कारण है कि सभी देशों के विचारवान व्यक्ति आधुनिक विश्व में अनेक निराशाजनक प्रवृत्तियों के क्रियाशील होने के बावजूद आध्यात्मिक जीवन में दिलचस्पी ले रहे हैं

—'वेदान्त केसरी' से साभार।

दुःख रहता है तो दुःखियों के प्रति हमदर्दी रहती है और भगवान् का निरन्तर स्मरण होता है। सुख में मनुष्य का हृदय निष्ठुर बन जाता है, वह भगवान् को भूल जाता है।

— वेदव्यास

हिन्दुओं की जीवन-योजना

श्रीमत् स्वामी बुधानन्दजी महाराज, न्यूयार्क।

(गतांक से आगे)

(चार)

अब हमें हिन्दुओं की जीवन-योजना के इन तीनों पक्षों पर अलग-अलग विचार करना चाहिए।

वर्णः—संस्कृत में इस शब्द का अर्थ होता है रंग। पर हिन्दुओं के समाजविज्ञान के अंतर्गत 'वर्ण' शब्द का प्रचलित अर्थ जाति या वर्ग है। 'वर्ण' शब्द यह ध्वनित करता है कि प्रारंभिक काल से ही भारतीय जनता स्वाभाविक रूप से वर्णों (रंगों) के आधार पर विभिन्न जातियों में विभक्त हो गई थी। किन्तु भारतीय इतिहास की कुठाली में विभिन्न जातियों में इतना अधिक रक्त-सम्बन्ध हुआ है कि आज वर्ण या रंग का, विभाजन की सीमा के रूप में, कोई महत्व नहीं रह गया है। इसके अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि यदि विभिन्न जातियाँ केवल रंग या वर्ण के आधार पर एक दूसरे से अलग रहने का प्रयत्न करतीं तो सभ्यता की भित्ति के रूप में किसी भी ठोस आधार अथवा संगठित समाज का निर्माण न हो पाता।

अतः हिन्दू द्रष्टाओं ने भारतीय जनता को गुण और

कर्म के आधार पर विभाजित करने की प्रणाली का आविष्कार किया। यह प्रणाली वैदिक काल के प्रारम्भ से ही निरन्तर विकसित होती चली आ रही थी। गीता में मनुष्यों की जाति के निर्धारण के सम्बन्ध में हम भगवान् कृष्ण की यह वाणी सुनते हैं। "मैंने ही चारों वर्णों का सृजन उनकी जन्मजात प्रतिभा, गुण और कर्म कौशल के आधार पर किया है" (४।१३)। इन चारों जातियों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के नाम दिए गए हैं। यह प्रणाली केवल हिन्दू धर्म के ही अन्तर्गत नहीं मिलती अपितु अन्य परम्पराओं के अन्तर्गत भी हम कतिपय संशोधनों से युक्त इसी प्रणाली के समानान्तर प्रकार का दर्शन कर सकते हैं। प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' (गणराज्य) में जिस आदर्श राज्य की कल्पना की है, उसके नागरिक 'गार्जियन' (संरक्षक), 'ऑक्जीलियरी' (सैनिक) तथा 'हसबैण्ड मैन' या 'क्राफ्ट्समेन' (कारीगर) के तीन वर्गों में विभाजित किए गए हैं। इसे हम दार्शनिक अधिपति, योद्धा और जनता का वर्ग कह सकते हैं।

नीत्शे कहता है कि "प्रत्येक स्वस्थ समाज में तीन परस्पर-आश्रित वर्ग होते हैं और वह स्वभाव ही है—न कि हिन्दू आचारसंहिता के प्रणेता मनु—जो एक वर्ग को दूसरे से अलग करता है। पहला वर्ग है बुद्धिप्रधान लोगों का; दूसरा वर्ग है कर्मप्रधान और भावनाप्रधान लोगों का, और तीसरा वर्ग उन सामान्य जनों का है जो न तो पहले वर्ग में आते हैं, न दूसरे में।"

प्लेटो और नीत्शे ने यद्यपि अपने आदर्श राज्य के अन्तर्गत जनता के तीन वर्गों का संकेत किया है किन्तु हम आज भी किसी भी स्वस्थ समाज के अन्तर्गत शिक्षकों (जिनमें धर्मोपदेशक एवं विद्यालयीन शिक्षक सम्मिलित हैं), शासकों (जिसके अन्तर्गत सैनिक भी निहित हैं), व्यापारियों और श्रमिकों के चार परस्पर-आश्रित वर्गों को स्पष्ट रूप से विद्यमान देखते हैं। समाज के सदस्यों का यह स्वाभाविक विभाजन हिन्दुओं की जातिप्रथा से काफी समानता रखता है।

हिन्दुओं की प्रतिभा केवल इस बात में निहित नहीं थी कि उन्होंने समाज के कार्यों को सुचारू रूप से सम्पादित करने के लिए जातिप्रथा का विकास किया था, हमें उनकी प्रतिभा का परिचय तो तब मिलता है जब वे उसे मुक्ति की प्राप्ति का साधन बना देते हैं।

आज भारत की जातिप्रथा के सम्बन्ध में इतने विवाद खड़े हो गए हैं कि हम हिन्दू समाजशास्त्र की आन्तरिक पवित्रता एवं विवेकसम्पन्नता के बारे में संदेह कर सकते हैं। यह सत्य है कि जातिप्रथा में अनेक व्यतिक्रम हुए हैं तथा उसके साथ अनेक दोष और अनावश्यक तत्त्व जुड़ गए हैं। कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति जातिप्रथा के पक्ष का समर्थन नहीं कर सकता। किन्तु जहाँ तक इसके आधारभूत सिद्धान्त का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में स्वयं गाँधीजी जैसे महान् क्रान्तिकारी एवं विवेकी व्यक्ति को यह कहना पड़ा था कि "जातिप्रथा का उच्चता या निम्नता से कोई

सरोकार नहीं है। यह तो आध्यात्मिक अर्थ-व्यवस्था का एक नियम है।"

हिन्दू समाज के चारों वर्ण एक जीवित प्राणी के चार अंगों के रूप में कल्पित किए गए हैं, और इस प्रकार वे एक दूसरे से घनिष्ठरूप से संबंधित हैं। यह बात इस तथ्य से भी सिद्ध होती है कि हिन्दू आचारशास्त्रियों ने विभिन्न जातियों के बिशिष्ट अधिकारों पर बल देने के स्थान पर, प्रत्येक जाति के द्वारा पालनीय सदाचरणों और कर्त्तव्यों पर जोर दिया है। वे जानते थे कि व्यक्ति जब समाज की सेवा करता है तब उसे अपना अधिकार स्वाभाविक रूप से प्राप्त हो जाता है।

अब हमें विभिन्न जातियों के गुणों और कर्त्तव्यों पर विचार करना चाहिए।

आत्मसंयम, तप, पवित्रता, गाम्भीर्य, क्षमा, सादगी, ईश्वर में विश्वास, शास्त्रों का ज्ञान और ईश्वर-जीव-जगत् सम्बन्धी विषयों में अन्तःप्रेरणा-ये ब्राह्मण के आवश्यक गुण और कर्त्तव्य के रूप में प्रतिष्ठित किए गए थे। ब्राह्मण समाज का शिक्षक था। वह आध्यात्मिक ज्ञान का पुरस्कर्त्ता तथा नैतिक एवं पवित्र जीवन का आदर्श और प्रेरक माना जाता था। साथ ही, वह राजा और प्रजा का मार्गनिर्देशक भी था। असल में, ब्राह्मण हिन्दू-सभ्यता के उच्चतम एवं उत्कृष्टतम आदर्शों का संरक्षक था। इसीलिए वह छोटे और बड़े, सभी व्यक्तियों की श्रद्धा का पात्र था। किन्तु वह अन्य वर्गों के लिए निधारित किए गए

कार्यों का सम्पादन करके धन-संग्रह नहीं कर सकता था। यदि कोई ब्राह्मण ऐसा करता, तो वह समाज के अपने ऊँचे आसन से गिर जाता था। अन्य वर्णों का यह कर्त्तव्य था कि वे उसे सामान्य जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करें।

क्षत्रियों में साहस, बल, धृति, कौशल, युद्धशौर्य, उदारता और प्रशासन-क्षमता का होना आवश्यक था। उसका कर्त्तव्य था कि वह प्रजा का इस प्रकार से पालन करे ताकि समाज के प्रत्येक वर्ग को लौकिक और आध्यात्मिक विकास की सुविधा मिल सके। वह भी शास्त्रों का समुचित अध्ययन और धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करके समाज के लिए आदर्श उपस्थित किया करता था। उसकी समस्त सम्पदा और सम्पत्ति का बिनियोग समाज-कल्याण के निमित्त होता था।

समाज के तीसरे वर्ग के व्यक्ति वैश्य पर राष्ट्र में धन के उत्पादन का उत्तरदायित्व था। उसका कृषि, पशुपालन अधिकोषण, उद्योग और वाणिज्य में तथा इनके उत्तरोत्तर विकास की विधि में पारंगत होना आवश्यक था। उससे यह अपेक्षा की जाती थी कि वह धार्मिक ग्रन्थों का पाठ करे, धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करे, कल्याणप्रद कार्यों के सम्पादन में उदारतापूर्वक हाथ बटाए तथा दरिद्रों एवं विपन्नों की सहायता करे।

चौथी जाति का व्यक्ति शूद्र शारीरिक श्रम के द्वारा समाज-कल्याण में योगदान दिया करता था। उससे

यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अन्य तीनों वर्गों की सेवा करे। शूद्र बुद्धिमान नहीं होता था, अतः उसमें चिंतन करने की क्षमता नहीं होती थी। सुदृढ़ मांसपेशियाँ ही उसकी विशेषता थी जिसके द्वारा वह सामाजिक ढाँचे को खड़ा करने के लिए सुदृढ़ नींव का निर्माण करता था। शूद्र की सेवा प्राप्त करने वाले समाज के अन्य तीनों वर्गों पर उसके भरण-पोषण का दायित्व था। उनसे यह अपेक्षा की जाती थी कि वे उसके कार्यक्षम रहते तक ही नहीं अपितु उसकी वृद्धावस्था में भी, जब वह अशक्त एवं निर्बल हो जाता था, उसका भरण-पोषण करें।

संक्षेप में, चारों जातियों के यही गुण और कर्तव्य थे।

जाति प्रथा पर अनेक दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। किन्तु हम यहाँ जातिप्रथा को केवल उस जीवन-योजना के सन्दर्भ में समझना चाहेंगे, जो हिन्दुओं की विश्व विषयक, मनुष्यविषयक एवं उसके उद्देश्यविषयक धारणा पर बनी है।

हिन्दुओं ने मनुष्यों के बीच में विद्यमान विषमता को देखा था। इसलिये उन्होंने उनकी समानता प्रतिपादित करने का प्रयास नहीं किया था। सामाजिकता की दृष्टि से जातिप्रथा मनुष्यों की मूलभूत असमानता को स्वीकार करती है। किन्तु हिन्दू इस बात को कभी नहीं भूले कि तत्त्व या आत्मा की दृष्टि से मनुष्य समान नहीं हैं अपितु एक हैं, क्योंकि आत्मा ब्रह्म ही है।

अतः व्यावहारिकता की दृष्टि से हिन्दुओं ने विभिन्न

जातियों के कर्त्तव्यों और दायित्वों का विभाजन इसप्रकार किया था जिसका सम्पादन करके प्रत्येक व्यक्ति अपने पापों से मुक्त होकर एक नया जीवन प्राप्त कर सकता था। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं: "मनुष्य अपने कर्त्तव्यों के सम्पादन के द्वारा उच्चतम पूर्णता की उपलब्धि कर सकता है। अपने कर्त्तव्यों के सम्पादन से माध्यम से ईश्वर की पूजा करते हुए व्यक्ति पूर्ण बन सकता है। व्यक्ति के लिए सु-अनुष्ठित परधर्म की अपेक्षा उसका अपना गुणरहित धर्म कहीं अधिक श्रेयस्कर है" (१८।४५-४७)।

स्वधर्म या व्यक्तिगत धर्म का निर्धारण समाज में व्यक्ति के विशिष्ट स्थान से होता है। श्रीकृष्ण का अभिप्राय स्वधर्म के इसी महान् सिद्धान्त से है।

हिन्दुओं की जीवन-योजना के अन्तर्गत वर्ण या जाति की धारणा 'आश्रम' या जीवन के त्रिविध सोपानों की धारणा की सहगामिनी है इस आश्रम-धारणा का निर्धारण आत्मसाक्षात्कार अर्थात् जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु निरन्तर आगे बढ़ते रहने के लिये किया गया है।

'आश्रम' शब्द की उत्पत्ति 'श्रम' से हुई है जिसका अर्थ होता है परिश्रम। अतः व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'आश्रम' शब्द का तात्पर्य जीवन का एक ऐसा सोपान है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति जीवन की परिपूर्णता की उपलब्धि के लिए परिश्रम करता है।

जीवन की अवधि सौ साल मानी गई है। यद्यपि सभी व्यक्ति सौ वर्ष तक जीवित नहीं रहते तथापि यह जीवन की

अधिकतम सीमा है जिसकी हम कामना कर सकते हैं। इस अवधि को लगभग पचीस बर्षों के चार भागों में बाँटा गया है। अपने जीवन के आरंभिक भाग में व्यक्ति ब्रह्मचारी होता था और ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करता हुआ विद्याध्ययन करता था। जीवन के दूसरे सोपान में वह गृहस्थ बनता था और अपने परिवार को भरण-पोषण करता था। तीसरे सोपान में वह वीतराग होकर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता था तथा जीवन के चौथे एवं अन्तिम सोपान में वह सर्वस्व त्यागकर संन्यासी बन जाता था।

ब्रह्मचारीः—

प्रत्येक हिन्दू व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने जीवन के प्रारंभिक सोपान में ब्रह्मचारी विद्यार्थी के रूप में गुरु के गृह में रहे और गुरु से विज्ञान, कला और धर्म की शिक्षा ग्रहण करे। इस सोपान में उससे यह भी अपेक्षा की जाती थी कि वह अनुशासित एवं निग्रहपूर्ण जीवन बिताए तथा अपने शरीर और मन को बुरे शब्दों, विचारों एवं कार्यों से बचाते हुए शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का संचय करे। भले ही विद्यार्थी का परिवार बहुत समृद्ध या सम्पन्न हो किन्तु गुरु-गृहवास करते समय उसे सभी प्रकार के शारीरिक श्रम के कार्य करने पड़ते थे। सभी विद्यार्थी गुरु और गुरुपत्नी के स्नेहपूर्ण संरक्षण में उन्हींके घर में रहा करते थे। गुरु के साथ सुदीर्घ अवधि तक निवास करने पर उनका शरीर, मन और चरित्र पूर्णतः

विकसित हो जाता था, उनके जीवन में उत्कृष्टतम जातीय गुणों की प्रतिष्ठा हो जाती थी और विद्यार्थी ज्ञान के विविध क्षेत्रों में प्रवीणता प्राप्त कर लेता था।

गृहस्थः—

विद्याध्ययन कर लेने के उपरान्त व्यक्ति अपने घर लौटता था तथा विवाह करके जीवन के दूसरे सोपान में प्रविष्ट होता था। अब वह एक उत्तरदायित्वपूर्ण तथा कर्त्तव्यपरायण गृहस्थ बन जाता था। हिन्दू आचारशास्त्रियों ने, बिना किसी अपवाद के, प्रत्येक सामान्य मनुष्य को वयस्क होने पर विवाहित जीवन बिताने का आदेश दिया है। केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए विवाह निषिद्ध बताया गया है जो संततियों तक को प्रभावित करने वाले संक्रामक रोगों से ग्रस्त हैं। जो व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार की उद्दीप्त प्रेरणा से विद्याध्ययन के उपरान्त सीधे संन्यासी का जीवन अपनाना चाहते हैं उन्हें भी विवाह से छूट दी गई है।

अन्य सभी लोगों को विवाह करके प्रजोत्पत्ति का दायित्व पूरा करना पड़ता था। विवाह को संसार में जीवन यापन करते हुए आध्यात्मिक विकास करने के लिए एक अनिवार्य अनुशासन माना गया था। इतना ही नहीं, एक अच्छे गृहस्थ को समाज की भित्ति के रूप में स्वीकार किया गया था। उसे जीवन के इस सोपान में परिवार और समाज की समृद्धि, प्रगति एवं कल्याण करने के लिए जगत् में अदम्य निष्ठा से कर्म करना पड़ता था। वह ऐसे समस्त भोगों, इच्छाओं एवं महत्त्वाकांक्षाओं की

परिपूर्ति कर सकता था जो उसके लिए शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से हानिप्रद नहीं है।

प्रजोत्पत्ति तथा उनका लालन-पालन गृहस्थ का एक धार्मिक कर्त्तव्य माना गया था। इसके अतिरिक्त, गृहस्थों के लिए देवताओं, मानवों एवं मनुष्येतर प्राणियों के सम्बन्ध में भी कर्त्तव्य निर्धारित किए गए थे।

वानप्रस्थः—

अपनी आयु के लगभग एक चौथाई समय तक अर्थात पचीस वर्षों तक नियमानुशासित एवं कर्त्तव्यपरायण गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करने के उपरान्त जब व्यक्ति के बाल सफेद होने लगते, जब उसके चेहरे में झुर्रियाँ पड़ने लगतीं और जब वह अपने नाती का मुँह देख लेता, तब वह जीवन के उस सोपान में प्रवेश करता था जिसे वानप्रस्थ कहते हैं। इस सोपान में वह कर्म उत्तेजना और सुखोपभोग के जीवन को त्यागता हुआ अरण्यवास करता था तथा अपना सारा समय वेदों के अध्ययन एवं प्रभु के चिंतन-मनन में लगा देता था। यद्यपि इस सोपान में पति और पत्नी साथ-साथ रह सकते थे किन्तु उनका शारीरिक सम्बन्ध निषिद्ध कर दिया जाता था। उन्हें शारीरिक संबंधों से ऊपर उठकर एक दूसरे को आध्यात्मिक सहचर के रूप में देखना पड़ता था।

संन्यासः—

असल में तीसरा सोपान जीवन के चौथे सोपान की ही भूमिका थी जिसमें व्यक्ति अन्तर्मुखी बनने का प्रयास

करता हुआ अपने मन को राग-द्वेष की भूमिका से ऊपर उठा लेता था। इस चौथे सोपान में वह संसार का त्याग करता हुआ पूर्णतः विरक्त जीवन व्यतीत करता था। जीवन के आरम्भिक सोपानों में उसने जिन सामाजिक दायित्वों को सम्पन्न किया था वह अब उनसे पूर्णतः मुक्त हो जाता था। संसार की कामनाओं का त्याग करते हुए तथा जिस समाज की उसने निष्ठापूर्वक सेवा की थी उसके द्वारा दी जाने वाली भिक्षा पर निर्भर रहते हुए वह पूरी तरह से ईश्वर-दर्शन के लिए सन्नद्ध हो जाता था।

जीवन के क्रमागत तीन सोपानों को पार करते हुए, अपने विशिष्ट दायित्वों एवं कर्त्तव्यों का सम्पादन करते हुए, एक कर्मबहुल, उत्साहपूर्ण, अर्थ से भरे हुए जीवन का सब प्रकार से उपभोग करते हुए एवं तत्पश्चात् अन्तर्मुखता के सोपान में से होते हुए व्यक्ति अंत में अपने चौथे सोपान में जीवन की परिपूर्णता की उपलब्धि कर लेता था।

यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक सोपान में से जीवन का सतत विकासोन्मुख उद्देश्य प्रकट होता था जो व्यक्ति को आगे बढ़ने की प्रेरणा देता था। जीवन के लक्ष्य की दृष्टि से उसके प्रत्येक भाग में एक नवीन और महत्तर अर्थ भरा होता था। हिन्दू के लिए जीवन का अर्थ ही था—आगे बढ़ना। वास्तव में, जीवन की यह आश्रम-योजना इस प्रकार बनाई गई थी कि मनुष्य उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त हो। महाभारत में कहा गया है कि "जीवन के चारों आश्रम एक सीढ़ी के समान हैं। यह

सीढ़ी ब्रह्म तक पहुँचाती है। उस सीढ़ी पर चढ़कर व्यक्ति ब्रह्म के लोक में पहुँच जाता है" (शांतिपर्व)।

पर हिन्दुओं की जीवन-योजना वर्णाश्रम धर्म अर्थात् जातिप्रथा एवं आश्रम-विभाजन में ही पूरी नहीं हो जाती। इसके साथ 'पुरुषार्थ' या जीवन के मूल्यों का विचार भी घनिष्ठ ही नहीं अपितु अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध है।

हमें यह बात याद रखनी चाहिए कि हिन्दूआचार-शास्त्री अतिशय आदर्शवादी होते हुए भी कट्टर यथार्थवादी थे। वे जानते थे कि मनुष्य अपने मूलरूप में शुद्ध, मुक्त और अमर है। किन्तु वे यह भी मानते थे कि देह के माध्यम से ही व्यक्ति जीवन-यापन करता है जो उसकी आत्मा को भूख, प्यास एवं ऐंद्रिकता के लौह-पाशों में बाँध लेती है। मनुष्य अपने भौतिक रूप में ऐंद्रिक भोगों की कामना, लालसा एवं इच्छाओं की अनुभूति करता है, किन्तु उसमें वह आत्मा भी रहती है जो उसे विशुद्ध मुक्तावस्था की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती रहती है।

आत्मोन्मुक्ति को जीवन का उद्देश्य स्वीकार करने के कारण जीवन के मूल्यों की ऐसी योजना की गई थी जिससे साँप भी मर जाये और लाठी भी न टूटे।

यह कहा गया था कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जीवन के चार पुरुषार्थ या मूल्य हैं। इन्हें हम क्रमशः औचित्य, सम्पत्ति और धन का औचित्यपूर्ण अर्जन, जीवन के अनिषेधात्मक सुखों का उपभोग और मुक्ति की उपलब्धि के रूप में समझ सकते हैं।

इनमें से मोक्ष अथवा मुक्ति की प्राप्ति को जीवन का चरम या सर्वोच्च मूल्य स्वीकार किया गया था। इसे अन्य मूल्यों के सहारे प्राप्त करने की चेष्टा की जाती थी और अन्यमूल्य इसके अनुगामी माने गए थे। अर्थ और काम की उपलब्धि व्यक्ति केवल गार्हस्थ्यजीवन के अंतर्गत ही कर सकता था। जीवन के अन्य तीन सोपानों में उसे धर्म और मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना पड़ता था। यहाँ यह स्मरणीय है कि गार्हस्थ्य जीवन में भी वह अर्थ और काम की वृत्तियों का उपभोग धर्म के रास्ते रहकर ही कर सकता था — धर्म का उल्लंघन करते हुए नहीं।

असल में, जीवन के विविध सोपानों के अनुसार व्यक्ति के संदर्भ में धर्म का तात्पर्य भी बदलता जाता है। इसलिए हिन्दू, धर्म को दो दृष्टियों से देखना है – सामान्य धर्म और स्वधर्म। सामान्य धर्मके अन्तर्गत वे आध्यात्मिक सिद्धान्त आते हैं जिनका पालन समाज के प्रत्येक व्यक्ति को करना पड़ना है। स्वधर्म का तात्पर्य उन विशिष्टधार्मिक कृत्यों से होना है जिन्हें व्यक्ति अपनी विशिष्ट जीवन-स्थिति के अन्तर्गत सम्पादित करता है। स्वधर्म या विशिष्ट व्यक्तिगत धर्म की यह धारणा कर्म के नियम एवं मुक्ति के विचार के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। इसीलिए यह हिन्दू-धर्म की महत्वपूर्ण धारणाओं में से एक है।

अतएव हम देखते हैं कि हिन्दुओं की जीवन-योजना में वर्ण, आश्रम और पुरुषार्थ की धारणाएँ आपस में इस प्रकार जड़ी हुई हैं कि वे मनुष्य के तल को छूती हुई,

उसे चक्रवात की तरह धीरे धीरे ऊपर उठाती हैं जब तक कि वह पूर्णता की स्थिति तक नहीं आ जाता। इसी स्थिति को मुक्ति कहते हैं जिसमें समस्त लालसा, इच्छा, अज्ञान, दुःख एवं भ्रम का विनाश हो जाता है और मनुष्य आत्मा के लोक में पहुँच जाता है।

पॉल डॉयसन ने अपनी पुस्तक 'फिलासफी ऑव उपनिषद्' (उपनिषद्-दर्शन) में हिन्दुओं की जीवन-योजना की महत्ता को स्वीकार करते हुए लिखा है—"मनुष्य का समूचा इतिहास हिन्दुओं की जीवन-योजना से अधिक महत्तर विचार हमें प्रदान नहीं कर सकता" (पृष्ठ ३६७)।

अब, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और विचारणीय प्रश्न यह है कि आधुनिक स्त्रियों और पुरुषों के लिए हिन्दुओं की इस प्राचीन योजना का क्या अर्थ है ?

यह स्पष्ट है कि हिन्दुओं की इस प्राचीन जीवन योजना को आधुनिक जीवन की स्थितियों में, भारत में भी, समग्र रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता। पर यह भी स्पष्ट है कि उसके मूलभूत तत्त्वों का अर्थ और मूल्य इतना अधिक है कि आज हम भारत में उस पर हल्के दिमाग से विचार करके उसे एक ओर फेंक नहीं सकते। यदि भारत की राष्ट्रीय योजना का निर्माण उसकी प्राचीन योजना के मूलभूत तत्त्वों के प्रतिकूल होगा तो उससे हिन्दुओं का कोई हित नहीं होगा। इसलिए आज हिन्दू-मेधा को यह सबसे बड़ी चुनौती दी गई है कि वह भारत की इस प्राचीन योजना को आधुनिक जीवन-संदर्भों में युक्त करने

के लिए ऐसे साधनों एवं विधियों का आविष्कार करे जिससे आत्मशक्ति का विकास केवल सम्भव न हो अपितु अनिवार्य हो जाय, जैसा कि हिन्दू जाति के इतिहास में सदैव होता रहा है।

यह भी कहा जा सकता है कि हिन्दुओं की जीवन-योजना के ये मूलभूत तत्त्व केवल आधुनिक भारत के लिए ही नहीं अपितु समूची मानवता और उसके भविष्य के लिए भी उपयोगी हैं। इन तत्त्वों का अपने भीतर समावेश करके पाश्चात्य जनता अपनी सभ्यता को समृद्ध बना सकती है और साथ ही ऐसे मार्ग का आविष्कार कर सकती है जिससे भविष्य में अद्भुत आत्मिक शक्ति से सम्पन्न नर-नारियों का निर्माण किया जा सके।

— 'वेदान्त फॉर ईस्ट एंड वेस्ट' से साभार।

× × ×

किसी भी महात्मा से यह न पूछो कि तुम्हारी जाति क्या है, क्योंकि भगवान् के दरबार में जाति का बन्धन नहीं रह जाता।

— कबीर

युगावतार श्रीरामकृष्ण और मथुरानाथ विश्वास

प्राध्यापक नरेन्द्र देव वर्मा

अवतार-पुरुषों का जीवन आकाश के समान अनन्त और सागर के समान अथाह होता है। सान्त और परिसीम होने के कारण सामान्य मानव-मन को उनकी अनन्तता और गहन-गम्भीरता की धारणा नहीं हो सकती। किन्तु अवतारों के साथ ही उनके लीला-सहचर भी आते हैं। उनका जीवन सामान्य मानवों के समान ही होता है पर अवतार-पुरुषों के मंगलमय संस्पर्श से वे सामान्य धरातल से कुछ ऊपर उठ जाते हैं। जब फूल खिल जाता है तब मंदवाही पवन उसकी सुरभि को वन-कान्तार में प्रसारित कर देता है। वही पवन भ्रमरों के विश्रान्तिमय नीड़ के दरवाजे में नए जीवन की थपकियाँ देता है और उनके नासिका-पुटों में प्रविष्ट होकर नवजीवन के आगमन की सूचना देता है। और, जब पूर्ण विकसित सुमन-पुञ्जों के चारों ओर भ्रमर गुञ्जार करने लगते हैं तब जगत् वसंत के आगमन की सूचना पाकर चतुर्दिक उल्लास के साम्राज्य में डूब जाता है। यदि अवतार पुरुषों का जीवन सद्यःविकसित पुष्प के समान है तो उनके लीला-सहचर उस पुष्प की सुरभि को प्रसारित करने वाले पवन हैं। भक्त-समूह भ्रमर हैं जो युगावतार के जीवन-परिमल का आस्वादन करते हैं।

युगावतार श्रीरामकृष्णदेव के महान जीवन का कीर्तन उनके लीला-सहचरों के आलम्बन से ही सम्भव हो सकता है। इसका कारण यह है कि हम उन्हीं के माध्यम से श्रीरामकृष्णदेव की लोकोत्तर प्रतिभा की यत्किंचित धारणा कर सकते हैं। ये सहचर ऐसे महत्-पुरुष होते हैं जिन्होंने श्रीभगवान् के चरणों की अभ्यर्थना की है और जिन्होंने उनके अपार भावमय रूप को अपनी क्षमता के अनुसार अपने जीवन में उतारने का प्रयास किया है।

श्रीमथुरानाथ विश्वास का युगावतार श्रीरामकृष्णदेव के लीला-सहचरों में एक विशिष्ट स्थान है। वे रानी रास-मणि के दामाद थे तथा उन्हीं के साथ रहते हुए उनकी विशाल सम्पत्ति की देखभाल किया करते थे। ऐसे तो रानी रासमणि के अन्य दामाद भी थे किन्तु मथुरानाथ में अपेक्षाकृत अधिक बुद्धिमत्ता और व्यवहार कुशलता थी। मथुरानाथ यद्यपि सम्पन्न परिवार के नहीं थे किन्तु उनमें एक कुशल शासक की प्रतिभा थी। यही कारण था कि जब मथुरानाथ की पत्नी करुणा का देहावसान हो गया तब रानी रासमणि ऐसे कुशल एवं कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति के अभाव की चिन्ता से विचलित हो उठीं। उन्होंने मथुरानाथ को अपने समीप बनाये रखने के लिए अपनी कनिष्ठ पुत्री जगदम्बा का विवाह भी उन्हीं के साथ सम्पन्न करके संतोष का अनुभव किया। रानी रासमणि ने ईश्वरीय प्रेरणा से दक्षिणेश्वर में विशाल मंदिर का निर्माण कर उसमें माता भवतारिणी के विग्रह की प्रतिष्ठा की थी तथा अन्य देवताओं

के लिए भी मंदिरों का निर्माण किया था। यह दक्षिणेश्वर वही पुण्यभूमि है जहाँ युगावतार श्रीरामकृष्णदेव की लीला के बारह वर्षों की सुदीर्घ अवधि की कथा छिपी हुई है; यही वह महान् तीर्थस्थल है जहाँ उन्होंने सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक उपलब्धियों का वरण किया था। अन्य दायित्वों के साथ दक्षिणेश्वर के मंदिरों की व्यवस्था का भार भी मथुरानाथ पर था और इस दायित्व का सम्पादन उन्होंने आजन्म पूरी तत्परता के साथ किया।

श्रीरामकृष्णदेव के प्रथम दर्शन के उपरान्त ही मथुरानाथ ने यह जान लिया था कि वे कोई सामान्य पुरुष नहीं हैं तथा उनकी पूजा-अर्चना से माता भवतारिणी पूर्णतः जागृत हो जाएँगी। दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्णदेव के प्रारम्भिक वर्ष उनकी अपरिसीम भगवद् विह्वलता एवं कातरता के वर्ष थे। दैवी विरह के संचरण से उनका जीवन ईश्वरानुराग से भास्वर हो उठा था। कभी-कभी तो वे तीन-तीन घण्टे तक माता की पूजा करते रहते थे और कभी कभी ईश्वरीय भाव की तन्मयता में देवार्पण के लिए रखे गए पुष्पों को अपने ही सिर पर चढ़ा लिया करते थे। उनकी उस उच्च आध्यात्मिक भूमिका को तब कौन समझ सकता था? दक्षिणेश्वर के अन्य कर्मचारी तथा पुजारी गण श्रीरामकृष्णदेव के इस आचरण को नितान्त पागलपन समझने लगे थे तथा ऐसा भी सोचने लगे थे कि यदि इस 'छोटे पुजारी' को छूट दी जाएगी तो यह सारे मंदिर को अपवित्र कर देगा और प्रतिमा भ्रष्ट हो

जाएगी। इसीलिए वे सभी परस्पर एकमत होकर मथुरानाथ से इस 'छोटे पुजारी' की शिकायत करने के लिए कटिबद्ध हो गए थे।

जब मथुरानाथ के कानों में श्रीरामकृष्णदेव के अद्भुत धार्मिक अनुष्ठानों की बात पहुँची तो वे सहसा ठगे से रह गए। किन्तु मथुरानाथ यह जानते थे कि श्रीरामकृष्णदेव अपार भक्ति तथा तलस्पर्शी सहजता के जीवन्त प्रतीक हैं और केवल सुनी सुनाई बातों पर विश्वास करके उनके संबंध में कोई निर्णय लेना उचित नहीं होगा। इसलिए उन्होंने स्वयं उपस्थित होकर 'छोटे पुजारी' की इस अद्भुत पूजा को देखने का निश्चय किया। जब उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव की पूजा का दर्शन किया तो उन्हें विश्वास हो गया कि उनकी विलक्षण पूजाविधि उनके ईश्वरानुरागी हृदय की ही निश्छल अनुकृति है। उन्होंने तब यह भी अनुभव किया कि उनकी साधना के मार्ग में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आनी चाहिए। इसीलिए उन्होंने वापस लौटते समय दक्षिणेश्वर के पुजारियों और कर्मचारियों को दृढ़-गम्भीर स्वर में चेतावनी दे दी कि श्रीरामकृष्णदेव को अपनी इच्छानुसार पूजा करने दिया जाय और यदि किसीने उनकी साधना में किसी भी प्रकार का विघ्न डाला तो उसका परिणाम बहुत बुरा होगा।

मथुरानाथ भावुक नहीं थे और न उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव पर किसी भावुकता के वशीभूत होकर श्रद्धा की थी। वे पश्चिमी शिक्षा में निष्णात थे तथा उनमें पर्याप्त व्यावहारिक

बुद्धि भी थी। वे किसी भी बात को बिना प्रमाण के स्वीकार करने में हिचकिचाते थे। इसलिए जब उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव के लोकोत्तर आचरण को देखा तब उनके मन में दो प्रकार के विचार उठे। पहले तो उन्होंने सोचा कि सम्भवतः इस असाधारण आचरण का कारण उनकी असीम भक्ति-प्रेम है। दूसरे, उन्होंने यह भी सोचा कि हो सकता है कि इसके मूल में कोई शारीरिक या मानसिक बीमारी हो। किन्तु मथुरानाथ इन दोनों सम्भावनाओं में से किसी पर भी सहसा विश्वास नहीं कर सके। वे संशयी थे। वे श्रीरामकृष्णदेव की पूजा-विधि को पागलपन की उत्पत्ति मानने के लिए तैयार नहीं थे। यह सत्य था कि श्रीरामकृष्णदेव अहर्निश 'माँ, माँ' का हृदय वेधी उच्चारण किया करते थे और असहनीय विरह-वेदना के कारण कभी तो पछाड़ खा-खाकर गिरते थे और कभी जमीन पर अपने मुख को बड़ी निर्दयता से रगड़ने लगते थे। कभी-कभी तो वे देवार्पण के निमित्त रखी हुई वस्तुओं को स्वयं ग्रहण कर लेते थे। किन्तु मथुरानाथ जानते थे कि बंगाल के रामप्रसाद आदि भक्तों एवं कवियों के जीवन में भी ईश्वरोन्माद के ऐसे क्षण उपस्थित हुए हैं जब उनमें लोकविपरीत आचरण देखे गए हैं। इसलिए द्विधाग्रस्त मथुरानाथ ने जहाँ एक ओर समाधि-पथी श्रीरामकृष्णदेव को अपने हृदय में उच्चासन पर प्रतिष्ठित किया था वहीं दूसरी ओर उन्होंने उनकी चिकित्सा के लिए प्रख्यात चिकित्सकों और डाक्टरों को भी नियुक्त किया था।

मथुरानाथ के इस प्रेमभाव का सुफल भी उन्हें मिला। जब सूर्योदय होता है तब कुहासा नष्ट हो जाता है; जब प्रेम जागृत होता है तब वहाँ संदेह टिक नहीं पाता। श्रीरामकृष्णदेव ज्ञान-सूर्य थे, वे अज्ञान की तिमिरराशि को ध्वस्त करने वाली ज्ञान-मरीचिकाओं के स्रोत थे मथुरानाथ के संदेहों की ज्वाल भी कालान्तर में नष्ट हो गया और तब उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव के परम कल्याणमय रूप का पूरी तरह से दर्शन किया। श्रीरामकृष्णदेव की शिक्षा-प्रणाली बड़ी अद्भुत थी। वे शिष्यों की तर्क-शक्ति को कभी भी कुण्ठित नहीं करना चाहते थे। वे व्यक्ति-स्वातंत्र्य के प्रबल समर्थक थे और उनका विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने विशिष्ट दृष्टिकोण को अक्षत रखते हुए भी सत्य का वरण कर सकता है। मथुरानाथ को अपने वैज्ञानिक ज्ञान तथा तर्क शक्ति पर बड़ा विश्वास था। वे प्रकृतिवाद या नियतिवाद के समर्थक थे। उनका विश्वास था कि प्रकृति के कुछ बँधे-बँधाए नियम हैं जिनके आधार पर प्रकृति का चक्र चला करता है; यद्यपि ईश्वर ने ही प्रकृति और उसके नियमों का निर्माण किया है किन्तु उसे भा इन नियमों का पालन करना पड़ता है।

एक दिन वे श्रीरामकृष्णदेव से इसी विषय पर चर्चा कर रहे थे। श्रीरामकृष्णदेव ने कहा कि यह तो बड़ी अजीब और उलटी बात है। ईश्वर ही जब नियमों का निर्माण करता है तो वह उन नियमों को तोड़ भी सकता है। मथुरानाथ ने तब दृढ़तापूर्वक अपने पक्ष का समर्थन

करते हुए कहा कि प्रकृति के नियमों का पालन ईश्वर को करना ही पड़ता है, उसे भंग करने की सामर्थ्य स्वयं ईश्वर में भी नहीं है। जैसे लाल फूल वाले वृक्ष में सदैव लाल फूल ही लगते हैं, सफेद नहीं। श्रीरामकृष्णदेव ने अधिक प्रतिवाद नहीं किया। दूसरे दिन जब वे शौच के लिए झाऊ की झाड़ियों की ओर गए तब उन्हें लाल फूलों वाले जवाकुसुम के वृक्ष की एक डाली की दो शाखाओं पर लाल और सफेद दो रंग के फूल खिले दिखे। जब उन्होंने उन दोनों फूलों की डाली को तोड़कर मथुरानाथ को दिखाया तब वे पर्याप्त विस्मित हुए और बोले—"हाँ बाबा, मैं हार गया।" उसी क्षण मथुरानाथ को यह अनुभव हुआ कि श्रीरामकृष्णदेव केवल तर्क के लिए तर्क नहीं करते। उनके प्रत्येक वचन में जीवन्त अनुभूति भरी होती है तथा वे वचन त्रिकाल में सत्य होते हैं। यह क्षण मथुरानाथ की आत्मोपलब्धि का प्रथम क्षण था। उन्हें ऐसा लगा कि मानों श्रीरामकृष्णदेव ने उनके हृदय पर घनीभूत रूप से विद्यमान संदेह के एक आवर्त को नष्ट कर दिया है।

मथुरानाथ के हृदय में संदेहों के आवर्त पर आवर्त पड़े हुए थे। किन्तु जैसे-जैसे वे श्रीरामकृष्णदेव के अधिकाधिक निकट आते गए वैसे-वैसे पुराने संस्कारों का आवरण एक के बाद एक उठता गया और अनेक घटनाओं के उपरान्त जब उनके समस्त संदेह विलीन हो गए तब मथुरानाथ ने श्रीरामकृष्णदेव की महानता को पूरी तरह से हृदयंगम किया। इन संदेहों और द्विधाओं के बावजूद

भी मथुरानाथ को श्रीरामकृष्ण की अहैतुकी कृपा प्राप्त होती रही। इसका कारण यह था कि मथुरानाथ श्रीरामकृष्णदेव से अगाध प्रेम करते थे। मथुरानाथ के इस प्रेम का परिचय अनेकानेक घटनाओं से मिलता है। एक बार श्रीरामकृष्णदेव शिवमंदिर में शिवलिंग का दर्शन करते हुए शिवमहिम्न स्तोत्रः का पारायण कर रहे थे। उन्होंने जब इस श्लोक का उच्चारण किया तो वे पूरी तरह से भावाविष्ट हो गए—

> असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
> सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
> लिखति यदि गृहीत्वा सारदा सर्वकालं
> तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥ ३२ ॥

—'हे शिव, यदि समुद्र को मसिपात्र बना दिया जाय, उसमें हिमालय के समान विशाल मसिपुंज घोल दिया जाय, कल्पवृक्ष की शाखा की कलम बना दी जाय, पृथ्वी को कागज बना दिया जाय और सरस्वती ही अनंतकाल तक क्यों न लिखती रहें किन्तु फिर भी, हे प्रभु, तुम्हारे गुणों के वर्णन का अन्त नहीं हो सकता!' अपारभावमय श्रीरामकृष्णदेव ने उपर्युक्त श्लोक के उच्चारण के साथ ही उसके भाव को अपने प्राणों में प्रतिष्ठित कर लिया। उनके अधर फड़कने लगे। उन्हें रोमांच हो आया। आँखों से अश्रु की धारा प्रवाहित होने लगी और वे गदगद कण्ठ से जोरों से बार बार कहने लगे—'हे शिव! तब मैं भला तुम्हारी कैसे प्रशंसा करूँ?' श्रीरामकृष्णदेव के इस

भावोच्छ्वसित उद्गार को सुनकर अन्य पुजारीगण शिव मन्दिर में दौड़े आए। किन्तु उनके महाभाव को वे कैसे समझ सकते थे? कोई कहने लगा—'अरे ये तो छोटे भट्टाचार्य हैं। आज तो इनपर पागलपन और दिनों की अपेक्षा अधिक सवार हो गया है। दूसरा कहने लगा—'अरे देखो, कहीं यह शिवलिंग पर चढ़कर उसे अपवित्र न कर दे। इसे हाथ पकड़कर मंदिर के बाहर कर दो।' मथुरानाथ दक्षिणेश्वर में ही थे। कर्मचारियों के हल्ले को सुनकर वे शिवमन्दिर की ओर आए। उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्णदेव जागतिक संवेदनों से ऊपर उठकर भाव-राज्य में पहुँच गए हैं। उनका वक्षस्थल आरक्त हो उठा है और आँखों से निरंतर अश्रुपात हो रहा है। मथुरानाथ को देखते ही कर्मचारियों में से कोई श्रीरामकृष्णदेव को बलपूर्वक हटाने का प्रयत्न करने लगा। तब मथुरानाथ अत्यंत क्रोधित हो कर बोले, "जिसे अपनी गर्दन बचानी हो वह भट्टाचार्य महोदय को छूने के लिए आगे न बढ़े।" यहीं नहीं, वे श्रीरामकृष्ण देव की बाह्य चेतना लौटते तक उनकी निगरानी करते रहे।

मथुरानाथ को श्रीरामकृष्णदेव अपना 'रसददार' कहा करते थे। रसददार का ओहदा उसे दिया जाता है जिसपर किसी व्यक्ति की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति का भार हो। मथुरानाथ अपने परिचितों के बीच में मथुर बाबू के सम्मान्य नाम से जाने जाते थे। उनके प्रेम ने स्वयं ईश्वर को उनके साथ चलने-फिरने के लिए बाध्य कर

दिया था। अब मथुर बाबू के जीवन में सम्पूर्ति का क्षण उपस्थित होता है और युगावतार श्रीरामकृष्णदेव की कृपा-कादंबरी उनपर बरसने लगती है। दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्णदेव के कमरे और पंचवटी के बीच में बाबुओं की एक कोठी भी है। उस दिन मथुरानाथ उसी कोठी में बैठे हुए श्रीरामकृष्णदेव को अपने कमरे के बरामदे में टहलते हुए देख रहे थे। श्रीरामकृष्णदेव ने उन्हें देखा नहीं था। इसलिए वे मुक्त रूप से घूम रहे थे। इतने में ही बाबुओं की कोठी से मथुर बाबू बदहवास होकर दौड़ते हुए श्रीरामकृष्णदेव के समीप पहुँचे और उन्हें बारम्बार प्रणाम करने लगे। मथुर बाबू की बड़ी ही अद्भुत दशा थी। वे अपने दोनों हाथों से श्रीरामकृष्णदेव के चरणों को पकड़ कर रो रहे थे। इस घटना का स्मरण करते हुए श्रीराम-कृष्णदेव कहा करते थे—"तब मैंने कहा, 'यह तुम क्या कर रहे हो? तुम बाबू हो, रानी के दामाद हो, तुमको इस प्रकार आचरण करते देख लोग क्या कहेंगे? शांत हो, उठो!' किन्तु वह कब सुनने लगा! कुछ देर बाद स्वस्थ होकर उसे जो अद्भुत दर्शन प्राप्त हुआ था, उस वृत्तांत को उसने विस्तारपूर्वक कह सुनाया। वह बोला, 'बाबा, आप टहलते समय सामने जाते थे तब ऐसा दिखता था कि आप नहीं हैं वरन् साक्षात् जगदम्बा ही सामने जा रही हैं! जब आप पीछे लौटते थे तब आप साक्षात् महादेव ही दिखते थे! मुझे पहले ऐसा प्रतीत हुआ कि यह मेरी आँखों का भ्रम है। अच्छी तरह से आँखें मींजकर फिर

इसतरह मैंने जितनी बार देखा, ठीक वही दर्शन हुआ।' बारम्बार यह कहता हुआ वह रोने लगा। मैंने कहा, 'मुझे तो इसका कुछ पता नहीं है भाई'; किन्तु मेरी बात को भला वह क्यों सुनने लगा? मुझे भय हुआ कि कोई इस बात को सुनकर रानी रासमणि से न कह दे। न जाने वे क्या सोचेंगी—सम्भवतः वे कहेंगी कि मैंने कुछ जादू-टोना कर दिया है! बहुत कुछ समझा बुझाकर कहने के बाद तब कहीं वह शांत हुआ! मथुर क्या व्यर्थही मेरेसाथ ऐसे आचरण करता था, मुझे इतना प्यार करता था? जगन्माताने अनेक बार उसे बहुत-कुछ दिखा-सुना दिया था। मथुर की जन्मपत्री में यह लिखा हुआ था कि उसके इष्टदेव की उसपर ऐसी कृपादृष्टि रहेगी कि वे शरीरधारण कर साथ-साथ घूमा करेंगे और उसकी रक्षा करते रहेंगे।"

मथुरानाथ के जीवन पर इस घटना का अद्भुत प्रभाव पड़ा। श्रीरामकृष्णदेव के माध्यम से प्राप्त दिव्य-दर्शन के साथ जन्मपत्री में लिखी बातों की अभूतपूर्व समानता देखकर उनका जीवन अनिर्वचनीय आह्लाद से भर उठा। मथुरबाबू के परम सौभाग्य की बात यह थी कि उन्होंने इस देवमानव की साधना के क्रम को स्वयं अपनी आँखों से देखा था। अपने साधना काल में श्रीरामकृष्णदेव को जिन जिन सामग्रियों की आवश्यकता हुई थी उस सब की पूर्ति मथुरानाथ ने की थी। भैरवी ब्राह्मणी श्रीरामकृष्णदेव की प्रथम महिला गुरु थीं जिन्होंने उन्हें वैष्णव तंत्र सम्प्रदाय की साधना में प्रवृत्त किया था।

उन्हीं के निर्देश में श्रीरामकृष्णदेव ने उस महाभाव की उपलब्धि की थी जो वैष्णवोक्त तंत्र मार्ग का चरम लक्ष्य है। भैरवी ब्राह्मणी ने श्रीरामकृष्णदेव की आध्यात्मिक उच्चता का मिलान शास्त्र-लक्षणों से करते हुए उन्हें अवता घोषित किया था। जब श्रीरामकृष्णदेव ने मथुर बाबू र भैरवी ब्राह्मणी की घोषणा की चर्चा की तब उन्होंने कहा– "बाबा, वे भले ही कुछ कहें, पर अवतार तो दस से अधिक नहीं हैं; अतः उनका कहना कैसे सत्य हो सकता है ? किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि आपपर माँ काली की असीम कृपा है।" किन्तु जब भैरवी ब्राह्मणी ने उन्हें बताया कि पुराणों में तो चौबीस अवतारों के अतिरिक्त ईश्वर के असंख्य अवतारों के उल्लेख आते हैं और जब उन्होंने वैष्णव ग्रंथों के उद्धरण दिये तो मथुरा बाबू चुप हो रहे। इस तथ्य की परीक्षा के लिए उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव की इच्छानुसार पंडितों और शास्त्रज्ञों की सभा का आयोजन किया था जहाँ सभी पण्डित इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि श्रीरामकृष्णदेव युगावतार हैं।

मथुरानाथ के माध्यम से श्रीरामकृष्णदेव के लोकोत्तर चरित्र के अनेक पक्ष प्रकाशित हुए हैं। अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में मथुर बाबू ने श्रीरामकृष्णदेव के प्रति जिस अगाध श्रद्धा-भक्ति का परिचय दिया है वह पूर्णतः बौद्धिक था। भगवद्-विरह में व्याकुल श्रीरामकृष्णदेव की वेदना को देखकर मथुरबाबू ने उसे कामव्याधि का ही एक रूप समझा था। अतः उन्होंने कुछ वेश्याओं को श्रीरामकृष्णदेव

के समीप भेजा भी था। किन्तु समदर्शी श्रीरामकृष्णदेव ने जब उन्हें 'माँ' 'माँ' कहकर सम्बोधित किया तो वे अत्यन्त लज्जित होकर लौट गईं। मथुरानाथ के समक्ष युगावतार के जीवन का कामगन्धहीन रूप स्पष्ट हो गया।

इसीप्रकार मथुरानाथ के मन में यह इच्छा उठी कि देवार्पण के निमित्त रखी गई सम्पत्ति श्रीरामकृष्णदेव के नाम कर दी जाए। मथुर बाबू ने श्रीरामकृष्ण देव से जब अपनी इच्छा व्यक्ति की तब वे उन पर अत्यन्त क्रुद्ध होकर उन्हें मारने दौड़े और कहा—"क्यों रे, क्या तू मुझे विषयी बनाना चाहता है ?"

श्रीरामकृष्णदेव अशरण-शरण थे। एक बार मथुरानाथ के लठैतों ने एक आदमी की हत्या कर दी। मथुर बाबू को इस मामले में न्यायालय से कठोर दण्ड मिलने की आशंका थी। जब आँखों में आँसू भरकर विनयावनत मथुरानाथ श्रीरामकृष्णदेव के समक्ष आये और अपने अपराध को स्वीकार कर, परिताप करते हुए उनसे प्रार्थना करने लगे कि वे ही इस आसन्न संकट से उनका उद्धार कर सकते हैं, तब पहले तो श्रीरामकृष्णदेव उनपर पर्याप्त रुष्ट हुए थे किन्तु अन्त में उन्होंनें मथुरानाथ को अभय प्रदान किया था।

अनेकानेक घटनाओं के माध्यम से मथुरानाथ को। श्रीरामकृष्णदेव की उच्चता का परिचय मिलता रहा। फलस्वरूप, वे श्रीरामकृष्णदेव के प्रति सर्वात्मभाव से समर्पित हो गए और उनकी दास्य-भाव से सेवा करने लगे।

वे समझने लगे कि श्रीरामकृष्णदेव ही उनके स्वामी हैं। उन्हें यह बोध हो गया कि उनकी समस्त सम्पदा, धन-सम्पत्ति, सबकुछ श्रीरामकृष्णदेव की है और वे तो दीवान मात्र हैं। इसदिव्य ज्ञान ने मथुरबाबू के बाह्यान्तर को परिवर्तित कर दिया। वे श्रीरामकृष्ण-गतप्राण हो गए। वे उन्हें चाँदी की कटोरियों और सोने की थालियों में भोजन कराते, कलकत्ता के विभिन्न दर्शनीय स्थानों में अपने साथ घुमाने ले जाते और अंगरक्षक की तरह श्रीरामकृष्णदेव के साथ रहा करते थे। कभी-कभी वे श्रीरामकृष्णदेव को भजन-कीर्तन सुनाने भी ले जाया करते थे और उनके समक्ष गायकों को इनाम देने के लिए दस-दस रुपयों की गड्डी रख दिया करते थे। श्रीरामकृष्णदेव अपनी इच्छानुसार भजन करने वालों को बुलाकर रुपए दे दिया करते थे। कभी-कभी तो वे अतिशय मुग्ध होकर सभी रुपयों को दे डालते थे। ऐसी अवस्था में मथुरानाथ अपनी बहुमूल्य अँगूठियाँ और शाल-दुशाले भी उनके समक्ष गायकों को प्रदान करने के लिए रख देते और अपने धन का सद्व्यय होते देख अपने हृदय में असीम संतोष का अनुभव किया करते।

वैसे, मथुरानाथ कृपण थे किन्तु श्रीरामकृष्णदेव के लिए वे मुक्तहस्त से खर्च करते थे। एक बार मथुर बाबू की उत्तरी भारत के तीर्थों की यात्रा करने की इच्छा हुई। श्रीरामकृष्णदेव की सहमति लेकर उन्होंने एक द्वितीय श्रेणी एवं तीन तृतीय श्रेणी के रेलगाड़ी के डिब्बों की व्यवस्था

की। जब श्रीरामकृष्णदेव अन्य यात्रियों के साथ वैद्यनाथ-धाम के दर्शन करके अन्य तीर्थों के दर्शनार्थ जा रहे थे तब उन्हें समीप के एक गाँव के निवासियों की दरिद्रता को देखकर अत्यन्त दुःख हुआ। उन्होंने मथुर बाबू से कहा—"तुम तो माँ के दीवान हो! इन सब लोगों को भरपेट भोजन कराकर एक एक धोती और सिर में डालने के लिए तेल दे दो न।" मथुरानाथ बड़े असमंजस में पड़े। उन्होंने कहा, "बाबा, यह कैसे सम्भव होगा? इन लोगों की संख्या तो बहुत अधिक है। फिर आगे की यात्रा के लिए रुपए भी कम पड़ेंगे।" मथुर बाबू की बात सुनते ही श्रीराम-कृष्णदेव क्षुब्ध हुए और उनका तिरस्कार करते हुए कहने लगे, "दूर हो मूर्ख! मुझे काशी नहीं जाना है। मैं इन्हीं के पास रहूँगा। इनके कोई नहीं हैं, इन्हें छोड़कर मैं नहीं जाऊँगा।" इतना कहकर श्रीरामकृष्णदेव उन्हींके मध्य जाकर बैठ गए। निरुपाय होकर मथुराबाबू ने कलकत्ते से रुपया मँगाया और श्रीरामकृष्णदेव के निर्देशानुसार उन्हें भोजन और वस्त्र प्रदान किया। तब कहीं श्रीरामकृष्णदेव काशीधाम जाने के लिए सहमत हुए। काशीधाम में श्रीरामकृष्णदेव 'कल्पतरु' बन गए और प्रत्येक व्यक्ति को उन्होंने मथुरानाथ के द्वारा उसकी वांछित वस्तु प्रदान की। अंत में जब मथुरबाबू ने श्रीरामकृष्णदेव से कुछ माँगने का अनुरोध किया तब पहले तो उन्हें किसी वस्तु का अभाव प्रतीत नहीं हुआ, किन्तु बहुत आग्रह करने पर उन्होंने कहा, "अच्छा, तुम मेरे लिए एक कमण्डलु ला दो।"

श्रीरामकृष्णदेव स्वार्थगन्धहीन तथा कामिनी और कांचन से परे, दैवत्व की भूमिका पर आरूढ़ रहने वाले देवमानव थे। एक बार मथुरबाबू ने एक हजार रुपयों का एक बहुमूल्य दुशाला खरीदा और उसे श्रीरामकृष्णदेव के ही उपयुक्त समझकर उन्हें भेंट कर दिया। पहले तो शिशु-स्वभाव श्रीरामकृष्णदेव उस दुशाले को ओढ़कर पर्याप्त प्रसन्न हुए किन्तु दूसरे ही क्षण उन्हें उसकी असारता का बोध हुआ और वे सोचने लगे कि यह भी तो अन्य वस्तुओं की तरह पंचभूतों से बना हुआ है और अन्य वस्तुओं की ही तरह यह भी ईश्वर की प्राप्ति में एक बाधा है। दूसरे, इसको धारण करने से मनुष्य का 'अहं' जाग उठता है और वह स्वयं को दूसरों से अधिक ऊँचा समझने लगता है। तब ऐसी वस्तु को रखने से क्या लाभ? ऐसा सोचते ही उन्होंने उस बहुमूल्य दुशाले को धरती पर फेंक दिया और और उसपर 'थू' 'थू' करते हुए उसे अपने पैरों से रौंदने लगे। उन्होंने तो उसे जलाने का भी निश्चय किया किन्तु किसीप्रकार एक व्यक्ति ने उस दुशाले को जलने से बचा लिया। जब मथुरबाबू को इसकी सूचना मिली तो उन्होंने कहा–"बाबा ने ठीक ही किया!"

मथुरानाथ के समान ही उनकी पत्नी जगदम्बा दासी की श्रीरामकृष्णदेव पर बड़ी श्रद्धा थी। दोनों ही श्रीरामकृष्णदेव को साक्षात् ईश्वर मानते थे और उन्हें अपनी प्रत्येक बात बताया करते थे। उनके लिए श्रीरामकृष्णदेव अन्तर्यामी थे, प्रभु थे, रक्षक थे। प्रति वर्ष की भाँति उस

वर्ष भी मथुरानाथ ने अपनी जानबाजार स्थित कोठी में दुर्गोत्सव के अवसर पर दुर्गा की स्थापना की थी। भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के पुनीत साहचर्य में उत्सव के दिन बहुत जल्दी व्यतीत हो गए। विजयादशमी का दिन आ पहुँचा। पुरोहितों ने मथुरानाथ को सूचना दी कि वे आकर देवी की प्रणाम-बंदना कर लें क्योंकि विसर्जन का मुहूर्त समीप है। माता का विसर्जन होगा—इस विचार से मथुरानाथ का हृदय कचोट उठा। उन्हें लगा कि माता के साथ ही उनके प्राण भी चले जाएँगे। उन्होंने कहा, "माँ का विसर्जन नहीं होगा। चाहे कुछ हो जाय। यदि किसीने इसमें दखल देने की कोशिश की तो खून-खराबी भी हो सकती है।" मथुरानाथ की घोषणा से सन्नाटा छा गया। उनके सभी परिजन और मित्र उन्हें समझाकर हार गए पर मथुरानाथ अपने निर्णय पर अटल रहे। अंत में जगदम्बा दासी ने श्रीरामकृष्णदेव से विनती की कि वे उनके पति को समझाएँ। श्रीरामकृष्णदेव ही आसन्न विपत्ति से त्राण प्रदान करने वाले एकमात्र आश्रय थे। मथुरानाथ श्रीरामकृष्णदेव को देखते ही बोले—"बाबा! चाहे कोई कुछ भी कहे किन्तु मैं अपने प्राणों के रहते माता का विसर्जन नहीं होने दूँगा। माँ ने मुझे इतनी सम्पदा दी है कि मैं उनका पूजन प्रतिदिन कर सकता हूँ। और फिर, माता को छोड़कर मेरे प्राण कैसे रह सकेंगे?" कल्याणमय प्रभु मथुरानाथ की व्यथा ताड़ गए। उनके प्रकम्पित वक्षस्थल पर अपना अभय हस्त रखते हुए वे बोले—"अरे, क्या तुझे इसी बात का भय है

कि माता तुझे छोड़कर चली जाएँगी ? पर भला तुझे छोड़कर वे अन्यत्र कहाँ जा सकती हैं ? आज से तो वे तेरे हृदय के और भी समीप रहेंगी।" श्रीरामकृष्णदेव के प्रबोधन और संस्पर्श से मथुरानाथ का विषाद जाता। और तब कहीं प्रतिमा का विसर्जन सम्भव हो सका।

मथुरानाथ ने इस तथ्य का अनुभव कर लिया था कि श्रीरामकृष्णदेव ईश्वरीय शक्ति के साक्षात् अधिष्ठान हैं तथा किसी भी व्यक्ति को इच्छामात्र से अध्यात्मराज्य में प्रविष्ट करा सकते हैं। इसलिए एक दिन उन्होंने उनके पास जाकर भाव समाधि की याचना की। श्रीरामकृष्णदेव ने पहले बहुतेरा समझाया कि समाधि के फेर में उसे नहीं पड़ना चाहिए तथा ईश्वर के मनन-कीर्तन में ही संतुष्ट होना चाहिए, किन्तु मथुर बाबू न माने। तब श्रीरामकृष्णदेव ने कहा—"मैं नहीं जानता। मैं माँ से कहूँगा, वे जो चाहेंगी वही होगा।" इसके कुछ दिन उपरान्त ही मथुर बाबू ने श्रीरामकृष्णदेव को बुला भेजा। इस घटना के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे-"मैं जाकर देखता हूँ तो ऐसा दिखा मानों वह पहले जैसा मथुर नहीं है। उसकी आँखें लाल हैं, अश्रुधारा बह रही है, ईश्वर की बातें करते करते और रोते रोते वह भीग गया है। मुझे देखते ही मेरे दोनों पैरों को पकड़ कर उसने कहा, 'बाबा, मैं हार मानता हूँ। तीन दिनों से मेरी यह हालत है, प्रयत्न करने पर भी सांसारिक कार्यों में किसी भी तरह अपना मन नहीं लगा पा रहा हूँ। सब गोलमाल हो गया है। तुम्हारा भाव तुम्हीं को

फले। मुझसे तो यह सहन नहीं होता······।' तब मैं उसकी छाती पर हाथ फेरने लगा।"

धीरे-धीरे श्रीरामकृष्णदेव के पुनीत साहचर्य में मथुरा-थ के दिन पूरे हो गए। उनका अन्त निकट आ गया। के अंग में एक भयानक घाव हो गया था जिससे वे उठ-बैठ नहीं पाते थे। जब श्रीरामकृष्णदेव उन्हें अन्तिम बार देखने पहुँचे तो मथुरबाबू ने उनकी चरण-रज की कामना की, किन्तु श्रीरामकृष्णदेव बोले—"इससे तुम्हारा घाव तो अच्छा नहीं होगा।" मथुरानाथ के नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। युगावतार के पवित्र सान्निध्य ने उनके तन मन दोनों को परिष्कृत कर दिया था। मथुरानाथ ने कहा—"बाबा, मैं इतना स्वार्थी नहीं हूँ। घाव की चिकित्सा करने के लिए तो डाक्टर और वैद्य हैं। मैं तो आपकी चरण-रज को अपने मस्तक पर इसलिए धारण करना चाहता हूँ ताकि मैं भवरोग से मुक्त हो सकूँ।" श्रीराम-कृष्णदेव यह सुनते ही भावाविष्ट हो गए और रोते हुए मथुरबाबू ने उनकी चरण-रज को अपने माथे पर चढ़ा लिया। इसके कुछ ही दिनों के बाद उनका देहावसान हो गया।

मथुरानाथ श्रीरामकृष्णदेव के प्रमुख लीला-पार्षद थे। उन्होंने अपनी सीमाओं में रहकर भी श्रीरामकृष्णदेव की आत्यंतिक निष्ठा से सेवा की थी। वे जगन्माता के दूत थे। जिसदिन उनका देहावसान हुआ, उस दिन श्रीराम-कृष्णदेव ने समाधि में देखा था कि माता की सखियाँ दिव्य विमान में मथुरानाथ को बैठाकर जगदम्बा के लोक

में ले गईं। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं था कि वे जीवन्मुक्त हो गए। वे प्रभु के पार्षद थे, उनका कार्य करने आए थे तथा निरन्तर प्रभु के कार्य को सम्पन्न करने के लिए वे जन्म ग्रहण करते रहेंगे। मुक्ति की कामना ... को होती है। भक्त जन्मजन्मान्तर तक ईश्वर की भ... उन कामना करता है, वह मुक्ति नहीं चाहता। श्रीरामकृष्णदेव ने उनके संबन्ध में कहा था—"कहीं राजा बनकर उसने जन्म लिया होगा! उसमें भोगवासना थी।"

भोगों में रोग का भय है, ऊँचे कुल में पतनका भय है, धन में राजा का, मान में दीनता का, बल में शत्रु तथा रूप में वृद्धावस्था का भय है। शास्त्र में वाद-विवाद का, गुण में दुष्ट जनों का तथा शरीर में काल का भय है। इस प्रकार संसार में सभी वस्तुएँ मनुष्य के लिये भय से पूर्ण हैं। भय से रहित तो केवल वैराग्य है।

— भर्तृहरि

ज्ञान-प्राप्ति के साधन

राय साहब हीरालाल वर्मा, रिटायर्ड डिपुटी कमिश्नर

श्रीयुत् डाक्टर भीखनलाल आत्रेय, एम० ए० डी० लिट्०, प्रोफेसर हिन्दू विश्व विद्यालय काशी, ने अपनी पुस्तक "योग वासिष्ठ और उसके सिद्धांत" के २४ वें अध्याय में इस विषय पर प्रकाश डालने के लिए योग वासिष्ठ के ३२००० श्लोकों में से लगभग ३५० श्लोक छाँट कर, उन्हें कई खण्डों में विभाजित कर, विषय के अंतर्गत प्रसंगानुसार एकत्रित कर, उनका अनुवाद सरल हिंदी में किया है—उसी का निष्कर्ष नीचे दिया जाता है :—

"ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि योगवासिष्ट के अनुसार ज्ञान ही मुक्ति का एक साधन है। वह ज्ञान केवल वाचिक ज्ञान नहीं, न वह तर्क मात्र ही है। मुक्ति का अनुभव करानेवाला ज्ञान 'आत्मा का अनुभव' है। यदि जीवन को ऊँचा बनाने के लिये ज्ञान प्राप्त नहीं किया और केवल नाम, यश और जीविका आदि के लिये ब्रह्मज्ञान अर्जन किया है, तो ऐसे ज्ञानी को योगवासिष्ठ में ज्ञानी न कहकर 'ज्ञानबन्धु' कहा है।

(१) ज्ञानबंधु—

जो लोग आत्मज्ञान को न पाकर और प्रकार के ज्ञानों से संतुष्ट हो जाते हैं, वे ज्ञान-बंधु कहलाते हैं।

(२) ज्ञानी—

जो पुरुष ज्ञान से जाने हुए ज्ञेय पदार्थ के ध्यान में इतना लग जाय कि उसको अपने मन का भी ध्यान न रहे—जिसका चित्त अचित्त हो जाय और कर्मफल की भी चिन्ता न रहे, वह ज्ञानी है।

(३) बिना अभ्यास के ज्ञान सिद्ध नहीं होता—

सैकड़ों जन्मों में अनुभूत होने के कारण बहुत दृढ़ हुई संसार-भावना का क्षय, बिना बहुत समय तक अभ्यास और योग किये नहीं होता। किसी काम को पुनः पुनः करने का नाम अभ्यास है। बिना अभ्यास के आत्मभावना का उदय नहीं होता।

(४) संसार से पार उतरने के मार्ग का नाम योग है—

योग (चित्त को शांत करनेवाली युक्ति) दो प्रकार का है। इसका एक प्रकार है आत्मज्ञान और दूसरा है प्राण-निरोध। चित्त को शांत करने के दो उपाय हैं; एक योग, दूसरा ज्ञान। योग का अर्थ है चित्त की वृत्तियों का निरोध करना; और ज्ञान का अर्थ है यथावस्थित वस्तु को जानना। चित्त और चित्त की वृत्ति (स्पन्दन) दोनों में से किसी एक का क्षय होने से दूसरे का भी क्षय हो जाना है। एक गुणी है—दूसरा उसका गुण है। एक के नष्ट होने पर दोनों ही नष्ट हो जाते हैं।

(५) योग की निद्रा—

जीव की परमात्मा में उस प्रकार की स्थिति जिसका नाम

तुर्य (तुरीय) है, जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाओं के बीज से रहित है, जो आनंद और चिति का अनुभव है, परम ज्ञान और आनंद है, वही योग का प्राप्य अनुभव है।

(६) तीन प्रकार के योगाभ्यास—

योग शब्द के तीन अर्थ हैं :—

(क) एक तत्त्व का गहरा अभ्यास।

(ख) प्राणों का निरोध।

(ग) मन का निग्रह।

इन तीनों प्रयोगों में से मन को शान्त करना सबसे उत्तम है।

(क) 'एक तत्त्व का गहरा अभ्यास' करने को योगवासिष्ठ में तीन रीतियाँ बताई गई हैं।

क— (अ) ब्रह्मभावना:—अनन्त आत्मतत्त्व का विचार करके मन को तन्मय बनाने का यत्न करना चाहिये। ब्रह्म में मन को स्थिर करने से प्राणों सहित मन ऐसे लीन हो जाता है, जैसे कि वह भोग्य पदार्थों के क्षीण होने पर हो जाता है।

क— (आ) पदार्थों के अभाव की भावना:—द्रष्टा, दर्शन और दृश्य सबको अत्यन्त असत् समझकर निर्विकल्प समाधि में एक तत्त्व के ध्यान में निमग्न होने पर, हृदय में वासना के क्षय के अंकुर का बीज आरोपित होने पर, क्रम से राग-द्वेष आदि की उत्पत्ति नहीं होती। संसार की

भावना निर्मूल हो जाती है और निर्विकल्प समाधि भी दृढ़ होने लगती है।

क— (इ) केवली भाव :— दृश्य का अत्यन्त अभाव होने पर जब द्रष्टा का द्रष्टापन आप ही लय हो जाता है, तब जो सत्ता शेष रहती है, उसे केवलीभाव कहते हैं।

ख— प्राणों की गति का निरोध :—जैसे पंखे की गति रुक जाने पर हवा की गति रुक जाती है, वैसे ही प्राणों की गति रुक जाने पर मन शान्त हो जाता है, मन के शान्त हो जाने पर अवश्य ही यह संसार विलीन हो जाता है।

ख—(अ) प्राण और मन का सम्बन्ध चित्त का ही बनाया हुआ है :-- मन ने ही प्राणों की कल्पना की है, इस कारण वह प्राणों के ऊपर निर्भर है।

ख— (आ) प्राणविद्या :-- प्राणविद्या से जीव के सब दुःखों का नाश होता है और सब प्रकार के सौभाग्य की प्राप्ति होती है। हृदय में प्रविष्ट वायु शरीर में फैलकर नाना प्रकार की चेष्टाएँ करती हुई और विशेष स्थान में रहती हुई, प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान नामों से प्रसिद्ध है। प्राणकी गति हृदय से ऊपर की ओर बाहर को है, और अपान की भीतर नीचे की ओर। हृदय में अपान के अस्त होने पर प्राण का उदय होता है और बाहर प्राण के अस्त होने पर अपान का उदय होता है। इन दोनों उदय और अस्त के बीच की अवस्था, जिसमें प्राण और अपान दोनों ही की गति का अनुभव नहीं होता, आत्मा की निजी अवस्था है।

ख—(इ) स्वाभाविक प्राणायाम :—फेफड़ों से प्राणों को बाहर निकालने का नाम रेचक है, बाहर बारह अंगुल से प्राणों को भीतर के अंगो में लाने का नाम पूरक है। बाहर से अपान के अन्दर आ जाने पर उसके द्वारा भीतर के अंगों को यत्न से भरने का नाम भी पूरक है। हृदय में आकर अपान जब अस्त हो जाये और वहाँ से प्राण का उदय न हो, तो वह अवस्था कुम्भक कहलाती है। इन प्राणायामों को करता हुआ पुरुष बुद्धि को इनमें लगाकर जो चाहे करे, उसको कर्तृत्व का स्पर्श नही होता।

ख—(ई) प्राणों की गति रोकने की युक्तियाँ :—वैराग्य, कारण का अभ्यास, व्यसनक्षय, परमार्थ का ज्ञान, शास्त्र और सज्जनों का संपर्क, अभ्यास, संसार की वस्तुओं में आस्था का त्याग, ध्यान द्वारा प्राप्त एकता का अनुभव, एकतत्त्व का गूढ़ अभ्यास, पूरक आदि प्राणायामों का अभ्यास, एकान्त में बैठकर ध्यान लगाना, ओंकार के उच्चारण द्वारा शब्दतत्त्व की भावना, सुषुप्ति अवस्था में संवित् को ले जाना, रेचक का अभ्यास, प्राणों को शान्त करने का अभ्यास, तालू के मूल में स्थित घंटी को जिह्वा से दबाकर प्राणों को ऊर्ध्वरन्ध्र में ले जाना, सब कल्पनाओं को शून्याकार आत्मा में लीन करके ध्यान लगाना, नाक की फुंगल से बारह अंगुल बाहर ध्यान लगाकर संवित् को लीन करना, भ्रुओं के मध्य में स्थित तारे का ध्यान लगा कर चेतन आत्मा में स्थिति प्राप्त करना, अभ्यास द्वारा प्राणों को ऊर्ध्वरन्ध्र द्वारा तालू से बारह अंगुल पर ले जाकर

शान्त करना, अकस्मात् ही जो आत्मज्ञान उदय हो जाये, उसमें दृढ़ता से स्थित होकर कल्पनाओं को लीन करना, चित्त को बालपूर्वक शुद्ध, वासनारहित, संवित्-मय आत्मा में लगाना, आदि अनेक विधियों द्वारा, जिनका अनेक गुरुओं ने उपदेश दिया है, प्राण की गति का निरोध हो जाता है। अभ्यास द्वारा प्राणों की गति के रुक जाने पर मन शान्त हो जाता है और निर्वाण ही शेष रह जाता है।

ग—मन का लय :—

ग—(अ) मन संसारचक्र की नाभि है :— इस मायाचक्र की नाभि मन है। मन के विलीन मात्र से दुःखों की शान्ति हो जाती है, और सर्वगत, शान्त ब्रह्म का अनुभव होने लगता है।

ग—(आ) मन कैसे स्थूल होता है :— अनात्मा में आत्मभाव से, देहमें विश्वास से, स्त्री, पुत्र और कुटुम्ब से, अहंकार के विकार से, ममता के मल से, 'यह मेरा है' इस भाव से, व्यर्थ वृद्धि को प्राप्त होनेवाले दोषों के कोश जरा और मरण आदि देनेवाले दुःखों से, उपादेय और हेय को प्राप्त करानेवाली संसार की आशाओं से, स्नेह से, धन के लोभ से, दूर से सुन्दर दिखाई देने वाली मणि और स्त्रियों की प्राप्ति से, चित्त स्थूल होता है।

ग—(इ) मन किस प्रकार ब्रह्म हो जाता है :—परम ब्रह्म में चित्त को लगाने से चित्त वासना रहित और शुद्ध जाता है। विचार द्वारा मन विलीन हो जाता है और मन के लय हो जाने पर ही कल्याण होता है।

ग—(ई) मन के निरोध करने की युक्तियाँ — जैसे मतवाला दुष्ट हाथी बिना अंकुश के जीता नहीं जा सकता, वैसे ही मन भी बिना ठीक युक्ति के नहीं जीता जा सकता। चित्त के ऊपर विजय प्राप्त करने की निश्चित युक्तियाँ हैं, जैसे:—

आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन, साधुओं का सत्संग, वासनाओं का त्याग और प्राणों का निरोध। एक युक्ति यह भी है कि सब विषयों के प्रति अनास्था उत्पन्न की जाय। ज्ञान द्वारा वासना रहित हो जाने पर मन का नाश हो जाता है और प्राणों का स्पन्दन भी रुक जाता है, केवल शांति ही शेष रहती है। मन के निरोध करने की और भी युक्तियाँ हैं, जैसे:—

(१) ज्ञानयुक्ति— "मन मेरा असली स्वरूप नहीं है, वरन् बनावटी रूप है, इसलिए मैं मन नही हूँ" इस प्रकार मन को त्याग देने पर मन शान्त और सनातन ब्रह्म हो जाता है।

(२) संकल्पों का उच्छेदन— संकल्प ही मन का बन्धन है और उसका अभाव ही मुक्तता है। भावना के अभाव मात्र से संकल्प अपने आप ही क्षीण हो जाता है। अपने अहंभाव का आरोपण करना ही संकल्प है।

(३) भोगों से विरक्ति— भोगों की इच्छा होना ही बंधन है। भोगों की घृणा से विचार उत्पन्न होता है और विचार से भोगों के प्रति घृणा होती है।

(४) इन्द्रियों का निग्रह— जो विवेक वाला और उदार आत्मा है, उसे जितेन्द्रिय कहते हैं। चित्त इन्द्रियों की सेना का नायक है। उसके जीतने से सब ओर जीत होती है।

(५) वासनाओं का त्याग—'यह वस्तु मेरी हो जाय', इस प्रकार की अपने भीतर की भावना को तृष्णा कहते हैं। यही सब से बड़ी जंजीर है। वासना को ही चित्त का स्वरूप जानो। बन्ध और मोक्ष, सुख और दुःख सत् और असत् इन सबकी आशा का त्याग करके क्षोभरहित समुद्र की भाँति स्थिर हो जाना चाहिये।

(अ) तृष्णा की बुराई :— तृष्णा बुढ़ापा और मरण के दुःखों की पिटारी है। सब कुछ जीर्ण और क्षीण हो जाने पर भी तृष्णा क्षीण नहीं होती।

(आ) इस संसार में न कुछ प्राप्त करने योग्य है और न कुछ त्यागने योग्य है :— इस झूठे ऐन्द्रजालिक संसार में ऐसी कौन सी प्राप्य वस्तु है, जिसकी ज्ञानीजन इच्छा करे? इस ब्रह्मतत्त्वमय, सर्वत्र सत्यमय संसार में ऐसी कौनसी त्याज्य वस्तु है, जिसको विद्वान् त्यागे? इसलिए इन सबसे विरक्त होकर निर्वाण को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

(इ) वासना-त्याग के दो प्रकार हैं :— एक ध्येय और दूसरा ज्ञेय।

१—ध्येयत्याग का स्वरूप :— यह धारण करके कि ये वस्तुएँ न मेरी हैं और न मैं इनका हूँ, ऐसी शान्त

बुद्धि से जो वासना का त्याग किया जाता है, उसे वासना का ध्येय त्याग कहते हैं।

२—ज्ञेयत्याग :— समबुद्धि से जो सब वासनाओं का क्षय करके और ममतारहित होकर शरीर का त्याग कर देता है, उसका वासना-त्याग ज्ञेय-त्याग कहलाता है।

(३) वासना के त्याग करने का उपाय :— पहिले विषयों के सम्बन्ध की तामसी वासनाओं का त्याग करके, मैत्री आदि शुभ वासनाओं को धारण करना चाहिए। फिर इनको भी त्याग कर अपने अन्दर सब वासनाओं से रहित होकर चिन्मात्र आत्मा की वासना का आश्रय ले, फिर मन और बुद्धि से संयुक्त उस चिन्मात्र की वासना को भी त्याग कर जो कुछ शेष रहे, उसमें स्थिर हो जाना चाहिये। जिसका मन वासना रहित हो गया है, उसे न कर्म त्यागने की आवश्यकता है और न कर्म करने की, न समाधि की जरूरत है और न जप की।

(६) अहंकार का त्याग: — यह जगत् रूपी वृक्ष अहंभाव रूपी बीज से उदय होता है। उसको ज्ञान रूपी अग्नि से भस्म कर देने पर फिर कुछ उत्पन्न नहीं होता।

(अ) अहंभाव को मिटाने की विधि :— मैं ही सारा जगत् हूँ, इस विचार द्वारा जब हेय (त्याज्य) और उपादेय (प्राप्य) भाव क्षीण हो जाय और समता का अनुभव हो जाय, तब अहंभाव की वृद्धि नहीं होती।

(आ) ब्रह्मभाव का अभ्यास :— मन को शान्त करके, इन्द्रियों को वश में करके, उपरतियुक्त होकर, निषिद्ध

और काम्य कर्मों का त्याग करके, इन्द्रियों को विषयों की ओर से हटाकर, श्रद्धावान होकर, इन्द्रियों और चित्त की वृत्तियों को वश में करके, कोमल आसन पर बैठे और जब तक मन शान्त न हो, तब तक ऊँ का उच्चारण करता रहे। तब अन्तःकरण की शुद्धि के लिये प्राणायाम करे। फिर धीरे-धीरे इन्द्रियों को अपने अपने विषयों से हटाये। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और क्षेत्रज्ञ (जीव) का जिस जिस तत्त्व से उदय हुआ है, उनको उसउ स तत्त्व में विलीन करे। पहिले विराट् में स्थित हो, फिर आत्मा में, फिर अव्याकृत में, फिर परम कारण में। शरीर के मांस आदि पार्थिव भाग को पृथ्वी में विलीन करे, रक्त आदि जलीय भाग को जल में, अग्नि से बने हुए भागों को अग्नि में, इत्यादि। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय जिस तत्त्व से बनी है, उसमें उसके लीन होने की भावना करे। आत्मा के भोग के लिये जो कर्मेन्द्रियाँ बनी हैं, उनको भी इसी प्रकार उनके तत्त्व में लीन करे। कानों को दिशाओं में, त्वचा को विद्युत् में, चक्षु को सूर्य के विम्ब में, जिह्वा को जल में, प्राण को वायु में, वाक् को अग्नि में, हाथ को इन्द्र में, पैरों को विष्णुमें, पायु को मित्र में, उपस्थ को कश्यप में, मन को चन्द्रमा में, बुद्धि को ब्रह्मा में विलीन करे। इस प्रकार अपने शरीर को ब्रह्माण्ड के समष्टि-शरीर में विलीन करके, 'मैं विराट् हूँ', इस भावना का अभ्यास करे। तब पृथ्वी को जल में, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में, वायु को आकाश में, आकाश को महाकाश में, जो कि समस्त

पदार्थों की उत्पत्ति का कारण है, लीन करे। लिंगशरीर धारण किया हुआ योगी उस तत्त्व में कुछ देर स्थित रहे (सूक्ष्म भूत, वासना, कर्म, विद्या, दश इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये सब मिलकर सूक्ष्म या लिंग शरीर कहलाते हैं), तब ब्रह्माण्ड से बाहर होकर यह अनुभव करे कि मैं सब कुछ हूँ। लिंग-शरीर को सूक्ष्म और अव्याकृत को अव्यक्त में बिलीन करे। जिस तत्त्व में यह जगत् नाम रूप से मुक्त होकर स्थित रहता है, उसे कोई प्रकृति कहता है, कोई माया, कोई परमाणु और कोई अविद्या। उस तत्व में लीन होकर सब पदार्थ अव्यक्त रूप से स्थित रहते हैं। निःसम्बन्ध और निःस्वाद होकर सारा जगत सृष्टि के उदय होने के पूर्व उसमें उसके ही रूप में रहता है। इसलिए स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन तीनों अवस्थाओं से परे की चौथी अवस्था का ध्यान करके और लिंग शरीर को विलीन करके, अपने आत्मा को परम आत्मा में विलीन करके, उसका अनुभव स्थिर करे।

अद्वैत वेदान्त के शास्त्रों में इस युक्ति का नाम, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है, लय योग है। इसकी विधि यही है कि प्रत्येक वस्तु को अपने विचार द्वारा उसके कारण में लय करके मन में वस्तुभाव न रखकर कारण भाव रखे। व्यष्टि की दृष्टि को हटाकर समष्टि की दृष्टि की और कार्य दृष्टि को हटाकर कारणदृष्टि की स्थापना करे।

(इ) अहंभाव के क्षीण हो जाने पर सब दोषों से निवृत्ति हो जाती है :— संसार में जो कुछ सुख-दुःख

मिलता है, वह सब अहंकार का विकार है। अहंकार नामक मन की वृत्ति के क्षीण हो जाने पर या क्षीण होने लगने पर, लोभ और मोह आदि दोष शुद्धहृदय को स्पर्श नहीं करते और समता का चारों ओर उदय हो जाता है।

(७) असंग का अभ्यास— पदार्थों के भाव और अभाव में हर्ष और शोक रूपी मलीन वासना होने का नाम संग है। शुभ और अशुभ कामों को करते हुए, मन का उनमें लिप्त न होना असंग कहलाता है। आत्मा नित्य, निर्मल, निरामय और स्वयं प्रकाश चिति है और शरीर अनित्य और मलयुक्त है। भला फिर दोनों में सम्बन्ध कैसा? वासना को दूर करने का ही नाम असंग है। किसी न किसी युक्ति द्वारा उसको प्राप्त करना चाहिए।

(८) समभाव का अभ्यास— त्याज्य वस्तु से खेद न करे और प्राप्य वस्तु से संग न करे, क्योंकि चित्त में युक्त को प्राप्त और अयुक्त को त्याग करने की वासना बनी रहती है।

(अ) समता का आनन्द :— समता द्वन्द्व का अन्त करनेवाली और व्यग्रता के ज्वर का नाश करने वाली है। जो अनन्त और सार आनन्द समता से प्राप्त होता है, वह राज्यप्राप्ति से भी नहीं मिलता।

(आ) सबको अपना बन्धु समझना चाहिए—"ऐसा कौन सा स्थान है, जहाँ मैं नहीं हूँ, और ऐसी कौन सी वस्तु है, जो मेरी नहीं है" इस निश्चय को दृढ़ कर लेने पर बुद्धि में भेदभाव नहीं रहता।

(६) कर्तृत्व का त्याग :— चित्त और कर्म दोनों आग और गरमी की तरह सम्बद्ध हैं। कर्मत्याग तब होता है, जब कि आत्मा में से वेदन और संवेद्य की भावना निकल जाने पर वासना न रहे और कल्पना रहित शान्त भाव में उसकी स्थिति हो जाय।

(१०) सब वस्तुओं का त्याग :— सब अवस्थाओं का त्याग करने पर जो बाकी रह जाता है, वही आत्मा है। सच्चा सर्व त्याग ऐसी चिन्तामणि है, जिससे सब प्रकार के दुःखों का अन्त हो जाता है।

(अ) सर्वत्याग का स्वरूप :— सर्वत्याग न शरीर के त्यागने से सिद्ध होता है, न राज्य आदि के त्यागने से, और न झोपड़ियों में रहकर तप करने से। वृक्ष के बीज की तरह सब वस्तुओं का बीज मन है। चित्त का त्याग ही सर्वत्याग है।

(आ) त्याग का फल :— जो सब वस्तुओं का त्याग कर देता है, उसी की सेवा में सब वस्तुएँ उपस्थित हुआ करती हैं।

(११) समाधि — यदि निर्विकल्प समाधि स्थित हो जाय तो अक्षय सुषुप्ति के समान शुद्ध पद की प्राप्ति हो जाती है।

(अ) समाधि का सच्चा स्वरूप :— पद्मासन लगा कर बैठ जाने या ब्रह्म को हाथ जोड़कर बैठ जाने अथवा चुपचाप बैठे रहने का नाम समाधि नहीं है। समाधि का अर्थ है मन में शान्ति। समाधि का आरंभ तब होता है, जब

ज्ञान द्वारा मन पूर्ण रूप से स्थिर हो जाता है। विषयों में बिलकुल भी तृष्णा न रहना इसका लक्षण है।

(आ) मन के लीन होने का आनन्द :—चित्तरूपी वैताल के शांत हो जाने पर जो आनन्द अनुभव में आता है, वह सारे जगत् का राज्य प्राप्त होने पर भी नहीं मिलता।

योग वासिष्ठ में ऊपर बतलाए हुए उपायों का सार निम्नलिखित है :—

(१) मुक्ति उसी ज्ञान से संभव है, जिससे आत्मा का अनुभव हो।

(२) वह अनुभव, संसार - भावना के क्षय हुए बिना नहीं हो सकता।

(३) इस तरह का क्षय, चित्त के शान्त करने से होता है।

(४) मन का निरोध होता है अध्यात्म ग्रन्थों के अध्ययन से, सत्संग से, वासनाओं के त्याग से और योग की क्रियाओं के साधन से।

(५) जब मन शांत हो जाये, तब इन्द्रियों को वश में करके, चित्त को परम ब्रह्म में लगाये। अनन्त आत्मत्त्व का सदैव विचार करते रहने से ब्रह्म में मन स्थिर हो जाता है।

(६) ऐसी अवस्था में दृश्य पदार्थों का अभाव होने लगता है और इसका अभ्यास दृढ़ होने पर द्रष्टा के द्रष्टापन का भी लय हो जाता है। तब जो सत्ता शेष रहती है, उसे केवलीभाव कहते हैं।

अद्वैत के अन्य ग्रन्थों में भी बतलाया है कि आत्मा के जो तीन आवरण (देह, अहंकार और प्रकृति) हैं, वे अन्वय-व्यतिरेक के अभ्यास से, समाधि लगाने से और ब्रह्म में मन लगाने से छूट जाते हैं। पुरुष के तत्त्वज्ञ हो जाने पर आत्मा और परमात्मा में भेद नहीं रह जाता। परन्तु आत्मज्ञानी को कई सीढ़ियों द्वारा ऊपर चढ़ना होता है। प्रथम उसे आत्मा का बोध करके उसका गौरव समझना पड़ता है (आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः); फिर यह समझना पड़ता है कि अपने भीतर जो 'मैं' है वही शुद्ध आत्मा है; ऐसा भाव हो जाने पर आत्मा और ब्रह्म में समानता हो जाती है (अहं ब्रह्मास्मि) और अन्त में यह ज्ञात होता है कि मन, प्रकृति, जगत्, हम, तुम ये सब ब्रह्म ही ब्रह्म हैं (सर्वं खल्विदं ब्रह्म)।

इसी तरह गोस्वामी तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस के उत्तर काण्ड में ज्ञान प्राप्ति की विधि, ज्ञान-दीपक नामक रूपक में, बड़ी ही सुन्दरता के साथ इस प्रकार समझाई है :—

"मनुष्य-जीवन का ध्येय यही है कि उसे कैवल्य (परमपद) प्राप्त हो। इसके मिलने के दो तरीके हैं— ज्ञान और भक्ति। ज्ञान के सहारे उसे ज्ञात हो सकता है कि जीव ईश्वर का अंश है, अतएव वह अविनाशी, चेतन, निर्मल और सुख की खान है; परन्तु माया के अन्धकार में उसे यह बात सूझ नहीं पड़ती। इसलिए यदि ज्ञान-दीपक जलाया जाय, तो उसके प्रकाश में यथार्थ तत्त्व उसे नजर

आ सकता है। लेकिन इसी दीपक के जलने के लिए पहिले घी और बत्ती चाहिए। ये चीजें इस प्रकार उपलब्ध होती हैं—यदि हरिकृपा से सात्त्विक श्रद्धारूपी गौ हृदयरूपी घर में बस जाये और जप-तप, व्रत, यम नियमादि शुभ धर्म और आचार, जो वेद में बतलाए गये हैं, ऐसी हरी घास को गौ चरे, आस्तिक भाव रूपी छोटे बछड़े को पाकर वह पन्हाये, वह गाय निवृत्ति रूपी रस्सी से बाँधी जाये, विश्वास रूपी दुहने का बर्तन हो, निर्मल मन दुहनेवाला अहीर हो, तब इस परम धर्ममय दूध को दुहकर निष्काम रूपी अग्नि में अच्छी तरह औंटावे, फिर क्षमा और सन्तोष रूपी हवा से उसे ठंडा करे, धृति और शम का जामन देकर उस दूध को जमावे, तब मुदिता-रूपी कमोरी में विचार रूपी मथानी से, दम-रूपी आधार में सच्ची और सुन्दर वाणीरूपी रस्सी लगाकर उसे मथे और मथकर उसमें से निर्मल वैराग्य रूपी परम पवित्र मक्खन निकाले; तब, शुभ, अशुभ कर्मरूपी ईंधन लगाकर योगरूपी अग्नि प्रकट करे, उसमें वह वैराग्य रूपी मक्खन तपावे; जब ममता रूपी मल जल जाय, तब विज्ञान रूपिणी बुद्धि शुद्ध घी को पाकर चित्तरूपी दिये में उसको भरके समतारूपी मजबूत दीवट बना, उसपर उसे रख दे। फिर तीन अवस्था (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) और तीन गुण (सत्त्व, रज और तम) रूपी कपास में से तुरीय, चौथी अवस्था रूपी रुई निकालकर और उसको सुधारकर अच्छी गाढ़ी बत्ती बनावे। इस तरह तेज का पुञ्ज विज्ञानमय दीपक जलावे,

जिसके पास जाते ही मोहादिक सभी पतिंगे जल जावें। ऐसे जलाए हुए दीपक की सोऽहमस्मि (वह मैं हूँ) रूपी जो अखण्ड वृत्ति है, वही उसकी प्रचण्ड दीपशिखा है। आत्मानुभव के सुख का सुन्दर प्रकाश होने पर, संसार के मूलस्वरूप भेद और भ्रम का नाश हो जाता है। तब वही बुद्धि उजाला पाकर हृदयरूपी घर में बैठकर, जो गाँठ जड़ और चेतन के बीच में माया से पड़ जाती है, उसे खोलती है। अगर यह गाँठ खुल गई, तो जीव कृतार्थ हो जाता है; लेकिन ऐसा न होने देने के लिए माया अनेक विघ्न डालती है। वह बहुत सी ऋद्धि-सिद्धियों को भेजती है, जो बुद्धि को लोभ दिखाती हैं, जो कल-बल-छल करके और पास पहुँचकर अपने आँचल की हवा से ज्ञान-दीपक को बुझा देती हैं। यदि बुद्धि परम सयानी हुई, तो उन्हें अपना शत्रु समझकर उनकी ओर झाँकती भी नहीं। यदि उन विघ्नों से बुद्धि को बाधा न पहुँची तो फिर देवता उपद्रव करते हैं। इन्द्रियों के दरवाजे रूपी अनेक झरोखे हैं। उन उन झरोखों में देवता लोग अपना स्थान बाँधे हुए बैठे रहते हैं, ज्योंही विषय रूपी हवा को आते देखते हैं त्योंही वे हठपूर्वक किवाड़ खोल देते हैं। जब वह तेज हवा हृदय रूपी घर में जाती है, तब उसके कारण वह विज्ञान रूपी दीपक बुझ जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान का मार्ग कठिन है और उससे गिरते देर नहीं लगती। लेकिन इस मार्ग को यदि कोई निर्विघ्न निबाह ले जावे, तो उसे कैवल्य (परमपद) अवश्य मिलता है।"

अविस्मरणीय

डा० प्रणव कुमार बनर्जी

एक पशु
कभी कभी जीवन का देवत्त्व
छीन लेना चाहता है,
एक पराजय
कभी कभी पथ की आस्था
लूट लेना चाहती है;
लेकिन तभी,
अन्धकार में चन्द्रमा की तरह,
किसी का अयाचित अमर स्पर्श
मरण को लाँघ जाता है।

यह दुर्बोध्य अनुभूति—
दिन-रात के हर प्रकोष्ठ में
क्षण भर का संचय होकर भी
रह जाती है अमिटसी,
अविस्मरणीय।

× × ×

अमरत्व की प्राप्ति

प्राध्यापक — देवेन्द्र कुमार वर्मा

'पिताजी ! आप मुझे किसे दान स्वरूप दे रहे हैं ?' आतुर कंठ से किशोर बालक बोल उठा। उसके शान्त और तेजस्वी मुख पर अवसाद की गहरी छाया व्याप्त हो गई थी। आकस्मिक दुख से उसका मन उद्विग्न हो उठा था। उसके पिता उद्दालक धन धान्य से सम्पन्न व्यक्ति थे। स्वर्गलाभ की इच्छा से उन्होंने एक विशाल विश्वजित् यज्ञ का आयोजन किया। था उद्दालक ने विद्वान् पंडितों को आमंत्रित किया था। उनके गुरु—गम्भीर मंत्रोच्चारण से यज्ञस्थल की भूमि पवित्र हुई थी। दूर दूर से आये हुए नर-नारियों के आह्लादित विपुल जन समुदाय ने यज्ञ मंडप की शोभा निहारी थी। अत्यंत उल्लासमय वातावरण में यज्ञ समाप्त हुआ। अब ब्राह्मणों की विदा की वेला थी। द्विजगण आतुरता के साथ दक्षिणा की बाट जोह रहे थे। शास्त्रों का विधान है कि यज्ञ के उत्कृष्ट फल की प्राप्ति के लिए उसके अनुरूप दक्षिणा भी दी जानी चाहिए। किन्तु—हरे, हरे, यह क्या—उद्दालक के पीछे कृषकाय, मृतवत् गायों का झुण्ड लेकर उनका सेवक आ पहुँचा। गोधन सर्वश्रेष्ठ धन है तथा उसका दान सब दानों

में श्रेष्ठ माना गया है। पर क्या यही गायें दान में दी जाने वाली हैं जिनमें हिलने डुलने की भी शक्ति बाकी नहीं है, चलने में जिनके पैर लड़खड़ा रहे हैं, दूध देने की तो बात दूर रही जिनमें चारा खाने तक की क्षमता शेष हो गई है। उपस्थित जन समुदाय में फुस फुसाहट होने लगी। धनिक उद्दालक की कृपणता देख लोग मुंह में हाथ देकर हँसने लगे। चारों ओर हास्य और व्यंग्य की बौछार होने लगी। एक ने कहा—'ये गायें ब्राह्मणों को नहीं, यम को दक्षिणा स्वरूप दी गई हैं; देखना, घर पहुँचने के पूर्व ही वे यमपुरी पहुँच जायेंगी।' दूसरे ने तीर छोड़ा, 'अरे, उन्होंने सोचा होगा कि जब यज्ञ शास्त्रोक्त रूप से सुसंपन्न हो गया तब उसकी फल प्राप्ति तो होगी ही। इतने कष्टों से इकट्ठा की गई धनराशि दक्षिणा में क्यों लुटाई जाय।' 'कितने विज्ञ हैं उद्दालक', एक आवाज आई, 'दान का दान दिया, यश भी पाया तथा गायों की अंत्येष्टि क्रिया से भी छुट्टी पा ली।' जितने मुख उतनी बातें। इन सब बातों को सुन रहा था एक किनारे खड़ा हुआ वह किशोर बालक, नचिकेता, उद्दालक का पुत्र। पिता की कृपणता देख उसे बहुत दुख हुआ था। लोगों की व्यंग्योक्तियाँ सुन-सुनकर उसका हृदय व्यथा से और भी विदीर्ण होने लगा। उसने सोचा—'इतने परिश्रम से पिताजी ने इस विशाल यज्ञ का आयोजन किया है, मान और यश की प्राप्ति की है किन्तु उनका कृपण स्वभाव ही उनके सारे किये पर पानी फेर रहा है। सदैव के लिए उनकी प्रतिष्ठा पर कलंक का टीका

लग रहा है। मैं तो उनका पुत्र हूँ। इस नाते मेरा कर्त्तव्य हो जाता है कि उनको इस दुष्पाप से बचाऊँ। चाहे जिस प्रकार भी हो मुझे उनके मान की रक्षा करनी होगी। धीरे धीरे श्रद्धा ने उसके विमल अन्तःकरण में प्रवेश किया। उसके अन्दर साहस का संचार हुआ और पिता के पास जाकर वह बोला, 'आप किस ब्राह्मण के हाथों मुझे सौंप रहे हैं? उद्दालक उसकी बात समझ न पाये। प्रश्न सूचक दृष्टि से वे उसकी ओर देखने लगे। 'मैं भी तो आपकी संपत्ति हूँ, पिताजी, आपका श्रेष्ठ धन; आप मुझे किसे दक्षिणा स्वरूप भेंट करेंगे?' मचलते हुए नचिकेता बोला। अब उद्दालक की समझ में बात आई। 'इस लड़के की इतनी धृष्टता! भला कभी पिता भी अपने पुत्र का कहीं दान किया करता है। यह लोगों के सामने मुझे] लज्जित करना चाहता है। आक्रोश से उनका मन भर गया। किसी तरह अन्दर के उबाल को रोक कर बैठे रहे। नचिकेता चुप-चाप बैठने वाला बालक न था। किंचित् कृत्रिम रोष दिखलाते हुए वह बोला, 'देखता हूँ, पिताजी, इस महान् विश्वजित् यज्ञ के अनुरूप दाक्षिण्य देने का आप में सामर्थ्य नहीं है। इन जरा-जर्जरित अस्थि-चर्मविशिष्ट गायों को देकर आप पाप तथा अपयश के भागी होंगे। मैं तो आपका धन हूँ, अतः मुझे ही आप क्यों नहीं किसी को दे देते?' अब उद्दालक सहन न कर सके। उनकी आखों से क्रोध की ज्वाला निकलने लगी। गरजकर बोले, 'अरे दुष्ट! पामर! निकृष्ट! जा, मैं देता हूँ तुझे मृत्यु के हाथों।

यम को ही दान करता हूँ तुझे।' नचिकेता काँप उठा। उसकी आँखों से मोती ढुलक पड़े। उसका सुकुमार कांतिमान चेहरा स्याह पड़ गया मानों सघन मेघ राशि ने शशांक को छुपा लिया। किन्तु वह धीर मना था। अपने आपको उसने संयत कर लिया। उसने सोचा, 'क्या मैं इतना तुच्छ हूँ कि पिताजी ने इस तरह मुझे मृत्यु के हाथों सौंप दिया? हो सकता है, उन्होंने क्रोध वश यह बात कह दी हो किन्तु उसका पालन करना अब मेरा कर्तव्य है। छोटा होने पर भी मैं बिलकुल तुच्छ तो नहीं, अतः पिताजी के बचनों को अवश्य निभाऊँगा।' इसप्रकार उस बालक में आत्मविश्वास और दृढ़ता का संचार हुआ और उसने यम के यहाँ जाने का निश्चय कर लिया।

अब पिता को अपनी गलती मालूम हुई। उद्दालक का अपने इस पुत्र पर बड़ा प्रेम था। वे बोले, 'बेटा, क्रोध के वशीभूत हो मैं कड़ी बातें बोल गया। तुम उसे मन में न रखना। तुम मेरे प्यारे पुत्र हो। क्या मैं तुम्हें मृत्यु को सौंप सकता हूं? उसके पहिले ही मैं चाहूँगा कि मेरी मृत्यु हो जाये।' पिता के प्रेमयुक्त वचन नचिकेता को न डिगा सके। वह शान्त संयत वाणी में बोला, 'पिताजी, जिस महान् पवित्र कुल में आपने जन्म ग्रहण किया है, उसमें उत्पन्न पवित्र पूर्वजों का सत्याचरण देखिये। सत्य ही उनके जीवन का एकमात्र वैशिष्ट्य था। अतः आप मोहवश अपने वचन के पालन से विमुख न होइये। आपने अपने अमूल्य धनको यम को अर्पित किया है। यह सदैव आपके

यश और कीर्ति को बढ़ायेगा। यह जीवन तो क्षण भंगुर है। जिस प्रकार लहलहाती हुई धान की बालियाँ भूपतित होने पर नष्ट हो जाती हैं किन्तु कालान्तर में पुनः खेतों की श्री-शोभा बढ़ाती हैं, उसी प्रकार इस तुच्छ मानव जीवन में मृत्यु के साथ जीवन का क्रम लगा रहता है। अतः आप मुझे बिना किसी दुःख के जाने की अनुमति दें।'

जब नचिकेता यमपुरी पहुँचा, उस समय मृत्युदेव बाहर गए हुए थे। वह तीन दिनों तक भूखा-प्यासा दरवाजे पर खड़ा उनकी प्रतीक्षा करता रहा। चौथे दिन जब यम-राज लौटे तो उन्हें इस बालक के आने की खबर मिली। वे तो धर्मराज हैं, आदि मृतक हैं। स्वर्ग में पितरों के अधिष्ठाता भी हैं। उनका 'यम' नाम ही उनके शुद्ध स्वभाव और साधुता का द्योतक है। बालक को कष्ट सहते देख उनका हृदय दुख से भर गया। शीघ्र ही बालक के पास जाकर बोले, 'हे ब्राह्मणकुमार! तुम्हें मेरा प्रणाम स्वीकार हो। तुम मेरे पूज्य अतिथि हो। मुझे दुःख है कि मेरे कारण तुम्हें तीन दिनों तक इतना कष्ट सहना पड़ा। इस अपराध के प्रायश्चित्त स्वरूप मैं तुम्हें प्रतिदिन के लिए एक एक करके तीन वर देता हूँ। जो इच्छा हो माँगलो।'

नचिकेता बोला, 'मेरे पिताजी आवेश में मुझे आपके पास भेजकर बड़े ही दुखित हुए हैं। अतः मुझे पहला वर यह दीजिए कि मेरे प्रति उनका क्रोध दूर हो जाय और जब आपकी आज्ञा पाकर मैं उनके पास जाऊँ तो वे मुझे पहिचान लें तथा मुझ पर प्रसन्न और संतुष्ट हो जायँ।'

यमराज ने कहा, 'तथास्तु'। 'हे यमराज, मैं जानता हूँ कि स्वर्ग आनन्द की भूमि है। वहाँ न किसी को वृद्धावस्था सताती है और न कोई आपके पाश में ही बँधता है। वहाँ कोई भूख-प्यास से त्रस्त नहीं होता और न शोकग्रस्त ही। सर्वत्र सुख और शांति का साम्राज्य छाया रहता है। किन्तु हे मृत्यो! इस स्वर्ग की प्राप्ति बिना अग्नि विज्ञान के जाने नहीं हो सकती। आप स्वर्ग के साधन भूत अग्नि के ज्ञाता हैं। मैं आपसे इस अग्निविद्या के उपदेश की याचना करता हूँ, यही मेरा दूसरा वर है।'

तब यमराज ने अनन्त, विनाश रहित स्वर्गलोक की प्राप्ति की आधार स्वरूपा अग्निविद्या का निरूपण इस बालक के संमुख किया। उसकी महत्ता तथा गोपनीयता बतलाते हुए उन्होंने अग्नि के लिए कुण्ड-निर्माण की विधि भी विस्तार पूर्वक समझाई। अब यमराज ने उसकी परीक्षा लेने के हेतु कुछ प्रश्न पूछे। नचिकेता ने तत्काल ही बड़ी कुशलता से उनके उत्तर दिये। उसकी विलक्षण बुद्धि देखकर यमराज बड़े प्रसन्न हुए। वे बोले, 'नचिकेता', तुम्हारी अलौकिक प्रतिभा देखकर, एक वर बिना माँगे ही देता हूँ। जिस अग्नि का मैंने तुम्हें उपदेश दिया है, वह तुम्हारे नाम से प्रसिद्ध होगी। लोग उसे नाचिकेत अग्नि के नाम से जानेंगे। इसके साथ ही दैवत्व की प्राप्ति के लिए ज्ञान-विज्ञान रूपी रत्नों की अद्भुत माला भी तुम्हें प्रदान करता हूँ। अब तुम तीसरा वर माँग लो।'

नचिकेता बोला, 'हे यमदेव, जब मनुष्य मरता है

उसके बाद उसका क्या होता है ? कुछ कहते हैं कि मृत्यु पश्चात् उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता, पर कुछ का कथन है कि मरने के बाद भी वह विद्यमान रहता है। इसमें यथार्थता क्या है ? यही मैं जानना चाहता हूँ। इसी यथार्थ तत्त्व का उपदेश देकर मुझे कृतार्थ कीजिए। यही मेरा तीसरा वर है।'

अब यम घबराये। आजतक ऐसा प्रश्न उनसे किसी ने नहीं पूछा था। नचिकेता के अन्य दोनों वरों को उन्होंने सहर्ष प्रदान किया था। किन्तु इस तीसरे वर में वे आगा-पीछा करने लगे। बड़ा गूढ़तम प्रश्न था। मानव जीवन का संपूर्ण रहस्य ही उसमें समाया हुआ था। बिना अधिकारी-भेद के इसका उपदेश सभी को नहीं दिया जा सकता था। अतः उसे टालते हुए यम बोले, 'नचिकेता, यह प्रश्न बड़ा गूढ़ है। प्राचीन काल में भी देवताओं ने इसके विषय में जानने की कोशिश की थी पर वे सफल न हो सके थे। इसका रहस्य इतना गहन है कि इसका अर्थ समझना दुष्कर है। अतः तुम दूसरा वर माँग लो। मुझसे इसके लिए अनुरोध न करो। मुझे छोड़ दो।' किन्तु नचिकेता इस तरह छोड़ने वाला न था। वह बोला, 'हे मृत्युदेव ! जब आप ही कहते हैं कि देवगण भी इस विषय में संदेहग्रस्त थे तो इसे समझना निश्चय ही सरल बात नहीं। पर इस रहस्यमय विषय में आपके सदृश दूसरा वक्ता भी मैं नहीं पा सकता और इस वर से उत्कृष्ट दूसरा वर भी नहीं है।'

यम ने कहा, 'हे ब्राह्मणकुमार ! मैं तुम्हें सारी पृथ्वी

का राज्य प्रदान कर सकता हूँ; जहाँ तुम जब तक चाहो पृथ्वी के समस्त भोगों का आनन्द उठाते हुए शासन कर सकते हो। सौ वर्ष की आयु वाले पुत्र, पौत्र, पशु, हाथी, अश्व, स्वर्ण जो चाहो माँग लो। इस पृथ्वी में जितनी काम्य वस्तुएँ हैं तुम्हें सब प्राप्त होंगी। गीत तथा वाद्य में प्रवीण अनिन्द्य सुन्दरियाँ तुम्हारी सेवा के लिए तत्पर रहेंगी। इन समस्त सुखों का उपभोग करते हुए लम्बी आयु माँग लो, किन्तु इस प्रश्न को छोड़ दो।'

यमराज के ये प्रलोभन उस धीर बालक को विचलित न कर सके। किंचित् मात्र भी उसका मन इन विषयोपभोग की वस्तुओं की ओर आकर्षित नहीं हुआ। त्याग और वैराग्य की शुद्ध पवित्र रक्तिम अग्निज्वाला ने मानों उसकी समस्त कामनाओं और वासनाओं को भस्म कर दिया। अनुपम आभा खेल उठी उसके दृढ़ चेहरे पर। वह बोला, 'सबका अन्त करनेवाले हे देव! जिन भोग्य वस्तुओं की महिमा का आपने पुल बाँधा है वे दो दिन की हैं। वे इन्द्रियों के तेज को हर डालती हैं। अति दीर्घ जीवन भी अनन्त काल की तुलना में अत्यल्प है। ये नाशवान हाथी, घोड़, रथ, ये रमणियाँ, ये साम्राज्य आप अपने पास रखिये। धन से कभी मनुष्य को संतोष नहीं हो सकता। अगर मुझे धन की इच्छा होती तो वह आपके दर्शन मात्र से मिल सकता था। जब तक आप की कृपा है तभी तक हम जीवित रह सकते हैं। ऐसा कौन विवेकी होगा जो आप जैसे अजर, अमर पुरुष के पास पहुँचकर, संसार की

क्षणभंगुरता देखकर भी सुख की याचना करेगा, भले ही वह दीर्घ जीवन के लिए क्यों न हो? विमल-सलिला गंगा के किनारे कुँआ खोदनेवाला मूर्ख के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? इसलिए मुझे प्रमाद में न फँसाइये और मरणोत्तर जीवन का ही उपदेश दीजिए। यही मेरा अभीष्ट वर है।'

नचिकेता की दृढ़ता तथा ज्ञान की उत्कट इच्छा को देखकर यमराज बड़े प्रसन्न हुए। उनके सामने खड़ा था वह त्याग का मूर्तिमान् विग्रहस्वरूप नचिकेता, जिसे दुनियाँ के आनन्दोपभोग की कोई वस्तु अपने पथ से न डिगा सकी। ज्ञान की प्राप्ति के लिए, मृत्यु के उस पार की एक झलक पाने के लिए, सत्य पर पड़े हुए माया के पर्दे को फाड़कर अलग कर देने के लिए उसने समस्त जागतिक सुखों का, ऐश्वर्य और मान-संपदा का तृणवत् त्याग कर दिया। उसके सामने एक ही लक्ष्य था—अनन्तकाल से मानव हृदय में उठनेवाले इस प्रश्न के उत्तर को जान लेना कि मृत्यु के बाद मनुष्य का क्या होता है। एक ही इच्छा थी सत्य को मात्र सत्य के ही लिए जान लेने की। ऐसा सत्यार्थी पाकर, तत्त्वज्ञान का ऐसा उत्तम अधिकारी देख-कर यमराज पुलकित हो उठे। उन्होंने कहा, "हे नचिकेता, इस जीवन के दो मार्ग हैं। एक तो प्रेय का अर्थात् भोग का, और दूसरा श्रेय का अर्थात् मोक्ष का। ये दोनों मनुष्य को अपनी ओर आकृष्ट करके विभिन्न दिशाओं में ले जाते हैं। जो श्रेय मार्ग के पथिक हैं उनका परम कल्याण होता

है, किन्तु जो प्रेयमार्ग अपनाते हैं वे लक्ष्यभ्रष्ट हो जाते हैं और पतन को प्राप्त होते हैं। हे नचिकेता, मैं तेरी प्रशंसा करता हूँ। तूने समस्त कामनाओं का परित्याग कर दिया। मैंने तुझे भोगों की ओर लुभाने की बड़ी कोशिश की पर तू दृढ़चित्त रहा। तूने यह समझ लिया है कि ज्ञान, भोगों की अपेक्षा कहीं अधिक उच्चतर है। तूने अच्छी तरह जान लिया है कि प्रेयमार्गी जो पुरुष अज्ञान और भोगों में लिप्त रहता है, उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो रहते हैं अज्ञानरूपी तमसान्धकार में, पर अहंकारवश अपने को बड़ा ज्ञानी और पंडित समझते हैं। अगर अंधा, अंधे को मार्ग दिखाने का उपक्रम करे तो निश्चय है, वे भटकते हुए, गड्ढे में लुढ़कते नजर आयेंगे। उसी प्रकार ये तथाकथित पंडित इधर उधर भटकते हुए पतनरूपी गढ़े में जा पहुँचते हैं। हे नचिकेता ! यह सत्य उनके हृदय में प्रकाशित नहीं होता जो अज्ञ और प्रमाद ग्रस्त हैं। ऐसे लोग न इस संसार को ही समझ पाते हैं और न दूसरे लोकों को ही। इहलोक और परलोक को अस्वीकारने वाले ये व्यक्ति बारंबार मेरे कराल पाशों में आ फँसते हैं। बहुतों को इस परम तत्त्व के बारे में सुनने का अवसर नहीं मिलता। और अनेक जो सुन पाते हैं वे समझ नहीं पाते, क्योंकि इसका सुनानेवाला विलक्षण होना चाहिए, साथ ही सुननेवाला भी। जिस प्रकार गुरु का महान् शक्तिसंपन्न होना जरूरी है उसी प्रकार शिष्य में भी अद्भुत क्षमता होनी चाहिए। यदि वक्ता अनुभवी न हो,

आध्यात्मिक साधनसंपन्न न हो, तो चाहे इस तत्त्वज्ञान को सौ बार क्यों न सुना जाय, सौ बार तक क्यों न पढ़ाया जाय, पर इससे सत्य हृदय में प्रकाशित नहीं होता। यह सत्य उसी हृदय में अपना स्वरूप प्रकाशित करता है जो शुद्ध और पवित्र है। अतः हे नचिकेता! कोरे तर्कों द्वारा, वाद-विवाद के द्वारा अपने मन को अशांत न बनाना; क्योंकि यह तत्त्व, भाषा-पांडित्य, सुनियोजित तर्कजाल से परे है। यह तत्त्व असीम प्रयत्न के बिना नहीं मिलता; यह गुप्त है, हृदय के गुह्यतम प्रदेश में स्थित है। यह पुरातन पुरुष इन बाह्य नेत्रों द्वारा नहीं देखा जा सकता। उसे मनुष्य आत्मा के ही नेत्रों से देख सकता है और देखकर सुख-दुख दोनों से अतीत हो जाता है। इस रहस्य का ज्ञान होने पर मनुष्य की समस्त वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं और वह पूर्णत्व को प्राप्त कर दिव्य आनन्द का अनुभव करने लगता है। हे नचिकेता, यही चिरन्तन शाश्वत शांति का पथ हैं। वह समस्त पुण्यों से परे है, पाप से भी परे है, वह धर्म से परे है, अधर्म से भी परे है; वह वर्तमान से अतीत है, भविष्य से भी अतीत है। जिसे इसका ज्ञान हो गया है वही वास्तव में जानने वाला है।

"इस अध्यात्म विषयक धर्ममय उपदेश को पहले अनुभवी महापुरुषों के सान्निध्य में श्रद्धापूर्वक सुनना चहिए, सुनकर मनन करना चाहिए। तदनन्तर एकांत में उस पर विचार करके बुद्धि को उसमें स्थिर करना चाहिए। इस प्रकार साधन के द्वारा जब मनुष्य को आत्मस्वरूप की-

प्राप्ति हो जाती है तब वह आनन्द स्वरूप परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है, आनन्द सुधा-सागर में निमग्न हो जाता है। हे नचिकेता, तुम्हारे लिए उस परम धाम का द्वार खुला हुआ है। तुम्हें वहाँ जाने से कोई नहीं रोक सकेगा। तुम ब्रह्मदर्शन के उत्तम अधिकारी हो ऐसा मैं मानता हूँ।"

मृत्युदेव के मुख से अपनी प्रशंसा सुन साधु सम्मत संकोच से नचिकेता का हृदय भर गया। परब्रह्म पुरुषोत्तम की महिमा सुनकर उस परमात्म तत्त्व को जानने की उसकी इच्छा बलवती हो गई। अत्यंत नम्रतापूर्वक वह बोला, "भगवन्! आप यदि मुझपर प्रसन्न हैं तो धर्म और अधर्म से परे, कार्यकारणरूप प्रकृति से पृथक् तथा भूत, वर्तमान और भविष्य इन सबसे भिन्न उस परमात्म तत्त्व का विवेचन करने की कृपा कीजिए।"

यमराज ने कहा, "हे नचिकेता, जिसे सभी वेद ढूँढ़ते फिरते हैं, जिसके दर्शन पाने के लिए लोग तरह तरह की तपश्चर्या करते हैं, मैं तुम्हें उसका नाम बतलाता हूँ—वह है ॐ। यह अक्षर ॐ ही ब्रह्म है। यही वह अमर तत्त्व है जिसका रहस्य जान लेने पर मनुष्य जो इच्छा करता है वह पूरी हो जाती है। मनुष्य में अवस्थित यह आत्मा न तो जन्मता है और न मरता है। यह अनादि है और सर्वदा वर्तमान है। यह पुरातन पुरुष शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। अगर मारने वाला सोचे कि मैं मार रहा हूँ और मरने वाला समझे कि मैं मारा जा रहा

हूँ तो दोनों ही भूल करते हैं, क्योंकि आत्मा न तो किसी को मारता है और न मारा जा सकता है। वह परमाणु से भी अनन्तगुना छोटा है तथा बड़ी से बड़ी वस्तु से भी अनन्तगुना बड़ा है। वह सबका नियंता, सबकी हृदि-कन्दरा में निवास करता है। जो पाप रहित हो जाते हैं वे उसकी ही कृपा से उसकी परम महिमा का दर्शन करते हैं। यह आत्मा स्थित होते हुए भी दूर तक चला जाता है, सोता हुआ भी सर्वत्र पहुँच जाता है। जिसका हृदय विमल और बुद्धि सूक्ष्म है उसके अतिरिक्त दूसरा, प्रभु के इन विरोधाभासी गुणों के समन्वय की अवतारणा नहीं कर सकता।

"उसके शरीर नहीं है फिर भी वह शरीर में रहता है; वह स्पर्श रहित होते हुए भी शरीर से स्पर्श करता प्रतीत होता है। 'वह सर्वव्यापक है' यह अनुभव कर आत्मवेत्ता पुरुष सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है। हे नचिकेता, यह आत्मा न तो वेदों के अध्ययन से प्राप्त होता है, न बहुश्रुत बनने से और न तीक्ष्ण बुद्धि से ही। जिसे यह आत्मा वरण करता है,वही उसे पाता है और उसी में इसकी संपूर्ण महिमा प्रकट होती है।" आत्मतत्त्व के इस गूढ़ विवेचन को नचिकेता दत्तचित्त हो सुन रहा था। यमराज की कवित्वमय अमिय वाणी धीरे धीरे उसके अज्ञानान्धकार को दूर करती जा रही थी। चारों ओर का वातावरण आत्मतत्त्व के मधुर उच्चारण से मधुमय हो रहा था। आश्चर्यजनक था वह वक्ता और वैसा ही अद्भुत था वह

श्रोता। यम के उस प्रांगण में आनन्द की अपूर्व धारा प्रवाहित हो रही थी। अचानक नचिकेता के मन में एक शंका उठी। तो फिर क्या इन्द्रियों से परे यह आत्मा पक्षपाती है ? जिस पर प्रसन्न हुआ उसी को अपने स्वरूप का दर्शन कराता है, दूसरों को नहीं? यम उसकी शंका ताड़गये। वे बोले, "जो दुष्कर्म में प्रवृत्त लोग हैं, जिनका मन शान्त नहीं है, वे इसे कभी नहीं पा सकते। पर जिनका हृदय पवित्र है, जिनके काय पवित्र हैं और जिनकी इन्द्रियाँ वश में हैं, उन्हीं के निकट यह आत्मा प्रकाशित होता है।"

'हे नचिकेता, इन्द्रिय रूपी घोड़ों से युक्त यह शरीर रथ है। मन इसकी लगाम है, बुद्धि सारथी है और जो सवार है वह है आत्मा। जिस रथ के इन्द्रियरूपी घोड़े प्रशिक्षित हैं, मनरूपी लगाम मजबूत हैं और जिसे बुद्धिरूपी सारथी द्वारा दृढ़ता से पकड़ा गया है वही रथ विष्णु के उस परम पद को पहुँच सकता है। जिस प्रकार अड़ियल घोड़े को वश में करना कठिन है, उसी प्रकार जिसका मन अपने वश में नहीं है, जो विवेकहीन है वह अपनी इन्द्रियों को अपने वश में नहीं कर सकता। जो विवेकी है, जिसका मन सत्य दर्शन के पथ पर आरूढ़ होता है, जो सदैव पवित्र होता है, वही इस सत्य को पाता है। इसकी प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य का पुनर्जन्म नहीं होता। हे नचिकेता, सत्य का यह मार्ग बड़ा दुर्गम है, दीर्घ तथा दुःसाध्य है। सूक्ष्म बुद्धि वाले मनीषी ही इसे समझ सकते हैं तथा इसका अनुभव कर सकते हैं। तो भी हे नचिकेता, तू निर्भय

हो, निराश मत हो, जाग जा, उठ खड़ा हो और बिना ध्येय तक पहुँचे विराम न ले; क्योंकि आत्मज्ञानी कहते हैं, यह पथ छूरे की तीक्ष्ण धार के ऊपर चलने के समान दुस्तर है। जो इन्द्रियों से परे है, जो अरूपवान और रस के अतीत है, जो अविकार्य, अचिन्त्य और अविनश्वर है उसे ही जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से बच जाता है।"

यम की अभयवाणी नचिकेता के हृदय में अपूर्व शक्ति का संचार कर रही थी। उसके अन्दर के समस्त विकार दूर हो गये थे। उसने अनुभव कर लिया कि वही मनुष्य जन्म, मृत्यु, दुःख और आपदाओं के बन्धनों को सदा सर्वदा के लिए तोड़ सकता है, जिसने सत्य की अनुभूति कर ली है। सत्य क्या है ? जिसमें कोई विकार नहीं, वही सत्य है। मनुष्य की आत्मा, विश्व की आत्मा ही सत्य है। इसकी अनुभूति से ही अमरत्व की प्राप्ति हो सकती है और वही मानवजीवन का एकमात्र लक्ष्य है। यम तरह तरह से इस आत्मतत्त्व का निरूपण कर रहे थे। अपने इस प्रिय शिष्य के अन्दर इस आत्मतत्त्व को भिदा देने के लिये वे अपने हृदय की समस्त अनुभूतियों को विभिन्न रूपों से समझा रहे थे। मानवजीवन के वे उच्चतम सत्य, कविता की अनूठी भाषा में निःसृत हो रहे थे। यमराज बोल रहे थे, "जिस प्रकार इस जगत् में अग्नि अपने आपको अनेक रूपों में प्रकट करती है, उसी प्रकार यह अद्वितीय आत्मा, जो सबका आत्मा है, स्वयं को प्रत्येक रूप में अभिव्यक्त करता है। वह अकेला सूर्य ही प्रत्येक आँख की दृष्टि का

कारण है फिर भी उसे किसी आँख के दोष स्पर्श नहीं करते। उसी प्रकार हे नचिकेता, आत्मा चाहे अपवित्र देह में हो चाहे शुद्ध देह में, पर उससे सर्वदा अलिप्त रहता है। इस नाशवान् जगत् में जो उस शाश्वत को जानता है, इस अचेतन संसार में जो उस चिन्मय प्रभु को पहिचानता है, जो अनेकता में एकमेवाद्वितीयम् को समझता है और उसका अपने आत्मा में दर्शन करता है, वही शाश्वत शांति का अधिकारी होता है। दूसरा कोई नहीं, कोई नहीं। वहाँ न सूरज चमकता है, न चाँद, न तारे, और न बिजली ही वहाँ अपनी वल्लरी फैला पाती है, तब फिर इस जगत् की सामान्य अग्नि की बात ही क्या ! उस आत्मतत्त्व के प्रकाशित होने से प्रत्येक वस्तु प्रकाशित होती है, उसी के प्रकाश से प्रत्येक वस्तु प्रकाशवान है। जब हृदय को दुख देनेवाली समस्त वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं, तब मनुष्य अमर हो जाता है और यहीं जीवित रहते हुए ब्रह्मपद प्राप्त कर लेता है। जब हृदय की सारी गांठें खुल जाती हैं, जब सभी संशयों का नाश हो जाता है, तब हे नचिकेता, वह मनुष्य अमर बन जाता है।"

यमराज के आप्त वचनों को सुनकर नचिकेता पूर्णकाम हो गया। उसकी चिर अभिलाषा पूरी हुई। यम के द्वारा बतलाई गई विद्या और योग के सहारे आत्मतत्त्व की उपलब्धि करके उसने मृत्यु पर विजय पा ली और इस प्रकार वह सदा-सर्वदा के लिए जीवन और मरण के बंधनों से मुक्त हो गया।

महायोगी अरविन्द

श्री रामेश्वर नन्द

भारतीय नवजागरण के इतिहास में महायोगी अरविन्द का एक विशिष्ट स्थान है। उनके जन्म के समय भारतीय स्वाधीनता की हलचलें शुरू हो गई थीं तथा सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के कार्य में भी तेजी आ गई थी। इसी समय हमारे देश में महात्मा गाँधी, लोकमान्य तिलक और विपिनचन्द्र पाल जैसे राजनीतिक नेताओं की पंक्ति उभरी थी जिन्होंने देश के विभिन्न भागों में स्वाधीनता की चेतना को प्रसारित करने का प्रयत्न किया था। लोकमान्य तिलक की 'स्वाधीनता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है' की घोषणा ने भारत को एक दृढ़ आत्मविश्वास प्रदान किया था तथा महात्मा गाँधी के सत्याग्रह आंदोलन की योजना भारतीय स्वाधीनता संग्राम की भूमिका बना रही थी।

असल में, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजनीतिक स्वातंत्र्य की जो चेतना देश के जन-मन में प्रसारित हुई थी वह आध्यात्मिक नवजागरण की ही एक अभिव्यक्ति थी। राजा राममोहन राय के प्रयत्नों से हिन्दू धर्म को विश्व के अन्य धर्मों के समकक्ष समझने की कामना भारतवासियों के हृदय में जाग गई थी तथा पश्चिमी ज्ञान की चकाचौंध से विभ्रामित भारतीयों को यह विश्वास हो गया था कि हिन्दू धर्म केवल अंधविश्वासों से भरा

हुआ धर्म नहीं है। उसमें अभीभी कुछ ऐसी बातें हैं जिनके बल पर वह अन्य धर्मों के समकक्षही नहीं, अपितु उनसे भी ऊँचे स्थान पर प्रतिष्ठित हो सकता है। युगावतार श्रीरामकृष्णदेव के व्यक्तित्व में धर्म की जो अनुभूति साकार हुई थी उसे विश्वबन्द्य स्वामी विवेकानन्द ने संसार के कोने-कोने तक पहुँचा दिया था। इसी समय स्वामी दयानन्द सरस्वती भी अपनी विलक्षण तर्क-प्रतिभा के माध्यम से हिन्दू धर्म के नव संस्करण में लगे हुए थे तथा उन्होंने उत्तर भारत के कोने-कोने में आर्य समाज की स्थापना करते हुए हिन्दू धर्म को वैदिक आधार प्रदान करने की चेष्टा की थी।

महायोगी अरविन्द इसी नवजागरणयुगीन भूमिका पर अपना कार्य करते हैं। अन्यान्य महापुरुषों की तरह उनके जन्म के समय कोई अलौकिक घटना नहीं घटी थी और उनका पारिवारिक वातावरण भी धार्मिक नहीं था। उनके पिता श्रीयुत कृष्णधन घोष पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता के बड़े प्रेमी थे तथा ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास करना मनुष्य की कमजोरी समझते थे। उनकी माता श्रीमती स्वर्णलता देवी मानसिक व्याधि से पीड़ित रहा करती थीं। इसप्रकार श्री अरविन्द का व्यक्तित्व भारतीय संस्कृति और सभ्यता के सर्वथा प्रतिकूल वातावरण में विकसित हुआ था।

श्री अरविन्द के पिता अपने पुत्रों की शिक्षा की व्यवस्था अंग्रेजी प्रणाली से कराना चाहते थे तथा उन्हें

भारतीय वातावरण से नितान्त दूर रखकर अफसर बनाना चाहते थे। इसलिए पाँच वर्ष की आयु में ही उन्होंने बालक अरविन्द को सन् १८७७ ई० में दार्जिलिंग के लारेट्टो कान्वेन्ट स्कूल में भरती करा दिया। वहाँ दो वर्ष शिक्षा पाने के उपरान्त श्री अरविन्द अपने दोनों भाइयों के साथ पढ़ने के लिए इंग्लैण्ड भेज दिये गये। वहाँ सन् १८७९ से १८९२ तक उनका १३ वर्षों का अध्ययन काल क्रमशः मैन्चेस्टर और लन्दन में बीता।

मैन्चेस्टर में श्री अरविन्द ने एक अंग्रेज पादरी मिस्टर ड्रिवेट के घर पर ही अंग्रेजी, फ्रेंच, लैटिन, गणित, भूगोल, इतिहास आदि विषयों की पढ़ाई की थी। उनके पिता ने मिस्टर ड्रिवेट को चेतावनी दी थी कि वे उनके पुत्र को लंदन के अन्य भारतीयों से न मिलने दें। वे श्री अरविन्द को पूरी तरह से अंग्रेज बनाना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने सभी प्रकार की सावधानी बरती थी।

श्री अरविन्द बड़े मेधावी छात्र थे तथा अल्पकाल में ही उन्होंने लैटिन, अंग्रेजी और फ्रेंच भाषा में प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। लंदन में जब वे उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए आए तब वहाँ उनके बड़े भाई श्री मनोमोहन भी थे। श्री अरविन्द की कविता में बड़ी अभिरुचि थी तथा वे स्वयं एक अच्छे कवि भी थे। उन्होंने ग्रीक और लैटिन भाषाओं में भी कविताएँ की थीं और इसके लिए उन्हें अनेक पुरस्कार मिले थे। यद्यपि उनके पिता अपने पुत्र को पूरी तरह से अंग्रेजी वातावरण के अभ्यस्त बनाना चाहते थे

किन्तु उनकी आर्थिक स्थिति उतनी अच्छी नहीं थी। उन्हें प्रतिवर्ष मनोमोहन, अरविन्द और बारीन्द्र की शिक्षा के लिए मिस्टर ड्रिवेट के पास लगभग पाँच हजार रुपये भेजना पड़ता था। इतनी बड़ी रकम की व्यवस्था करना उनके लिए बड़ा कठिन काम था। कभी-कभी तो वे अपने पुत्रों के सामान्य निर्वाह के लिए भी पर्याप्त रुपया नहीं भेज पाते थे। फलतः उनके पुत्रों को विदेश में भयानक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती थीं।

जिस समय श्री अरविन्द आई० सी० एस० परीक्षा की तैयारी कर रहे थे उस समय उनकी आर्थिक स्थिति बड़ी शोचनीय थी। इसी समय वे 'क्लासिकल ट्रिपोस' की परीक्षा में भी बैठना चाहते थे जो उस समय की बड़ी कठिन परीक्षा समझी जाती थी। इन दोनों परीक्षाओं की तैयारी करने में श्री अरविन्द ने कठोर परिश्रम किया। फलतः वे न केवल आई० सी० एस० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए बल्कि उन्होंने ट्रिपोस की परीक्षा में भी प्रथम श्रेणी में सफलता प्राप्त की। इन्हीं दिनों उन्हें अपनी मेधावी प्रतिभा के बल पर अस्सी पौण्ड की वार्षिक छात्रवृत्ति भी प्राप्त हुई थी।

उस समय आई० सी० एस० के परीक्षार्थी को घुड़सवारी की परीक्षा भी देनी पड़ती थी। किन्तु श्री अरविन्द की आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। कभी कभी तो उन्हें दो बार भोजन भी नहीं मिल पाता था। लंदन जैसी बर्फीली जगह में उनके पास एक ऊनी कोट तक नहीं था।

समुचित धन के अभाव में वे घुड़सवारी की शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके। फलतः उन्हें आई० सी० एस० में अनुत्तीर्ण घोषित कर दिया गया। यद्यपि घुड़सवारी की परीक्षा में उत्तीर्ण होना अनिवार्य नहीं था फिर भी श्री अरविन्द को केवल इसी आधार पर अनुत्तीर्ण घोषित कर देना अंग्रेजी शासन के पक्षपात का एक ज्वलन्त उदाहरण था। अनेक अंग्रेजों ने इंग्लैण्ड से भारत जाकर घुड़सवारी की शिक्षा पूर्ण की थी किन्तु यह सुविधा श्री अरविन्द को नहीं दी गई। अंग्रेजी शासन के इस पक्षपात को लक्ष्य करते हुए प्रसिद्ध इतिहासज्ञ एवं कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्राध्यापक जी० एम० प्रोथेरो महोदय ने लिखा था कि "श्री अरविन्द का ज्ञान अनेक अंग्रेज स्नातकों से अधिक है तथा उन्हें शास्त्रीय अध्ययन के लिए छात्रवृत्ति भी दी गई है। इसके अतिरिक्त वे अनेक अंग्रेज युवकों से अच्छी अंग्रेजी लिखते हैं। यदि भारत सरकार ऐसे प्रतिभावान युवक को केवल इसलिए प्रोत्साहित नहीं करती क्योंकि वह घुड़सवारी नहीं कर सकता तो यह मेरे विचार से शासन की अदूरदर्शिता है। ऐसे योग्य भारतीय को केवल घुड़सवारी के आधार पर अनुत्तीर्ण घोषित करना हमारे पक्षपात का जीता-जागता नमूना है।" मिस्टर प्रोथेरो के अतिरिक्त मिस्टर कॉटन ने भी शासन से श्री अरविन्द को आई० सी० एस० में ले लेने की सिफारिश की थी, किन्तु श्री अरविन्द को आई० सी० एस० के अन्तर्गत नहीं लिया गया। इसके कुछ अन्य कारणभी थे। वे लंदन के भारतीय युवकों के संगठन

'इंडियन मजलिस' के एक सक्रिय सदस्य थे तथा कुछ दिनों तक इसके सचिव भी रह चुके थे। यह संगठन भारत की स्वाधीनता का समर्थन करता था। अंग्रेज सरकार को इसकी सूचना मिल चुकी थी।

श्री अरविन्द हताश होकर 'कार्थेज' नामक जहाज से भारत वापस लौटे। किन्तु रास्ते में यह जहाज तूफान में फँस गया। इधर उनके पिता डा० घोष को यह गलत सूचना दे दी गई कि 'कार्थेज' नामक जहाज सभी यात्रियों के समेत समुद्र में डूब गया है। पुत्र-शोक में विह्वल पिता की हृदय-गति रूक जाने के कारण मृत्यु हो गई। भारत लौटने के पश्चात् श्रीअरविन्द बड़ौदा कालेज में अंग्रेजी के प्राध्यापक के पद पर कार्य करने लगे तथा यहीं से उनके जीवन के दूसरे अध्याय का प्रारम्भ होता है।

श्री अरविन्द की पढ़ने-लिखने की अभिरुचि पूर्ववत बनी रही। उनकी आय का और उनके समय का एक बड़ा भाग किताबें खरीदने और उनका अध्ययन करने में बीतता था। उनका अध्ययन-क्षेत्र अत्यंत विस्तृत था। वे छः प्रमुख विदेशी भाषाएँ जानते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने भारतीय धर्म और दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों का भी अच्छा अध्ययन किया था।

इन्हीं दिनों श्री अरविन्द ने भारतीय स्वाधीनता संग्राम में भी रुचि लेना शुरू किया। वे कांग्रेस की उदार वृत्ति से सहमत नहीं थे। राजनीति के क्षेत्र में वे उग्र विचारधारा के पोषक थे क्योंकि उनका सबसे अधिक विश्वास मनुष्य

की शक्ति और पुरुषार्थ में था। अपनी इस उग्र विचार-धारा को उन्होंने अनेकानेक ओजस्वी लेखों में प्रकट किया था जो उस समय 'इन्दुप्रकाश' के मराठी और अंग्रेजी अंकों में प्रकाशित हुए थे। भक्ति और शक्ति की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा था: "क्या हममें प्रेम, उत्साह या भक्ति का अभाव है? ये तो भारतीय जीवन के सारभूत तत्त्व हैं। किन्तु शक्ति के अभाव में हम न तो एकनिष्ठ हो सकते हैं और न मार्गदर्शन ही कर सकते हैं। भक्ति यदि दीपक की लौ है तो शक्ति उसे प्रज्वलित करने वाला तैल है। यदि प्रज्वलित करने वाला तैल ही सूख जाए तो दीपक की लौ कब तक जलती रहेगी?" वे जानते थे कि यदि व्यक्ति ही शक्तिहीन और दुर्बल हो तो चाहे वह कितनी ही योजनाएँ क्यों न बनाए, उसकी कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती। इसलिए श्री अरविन्द ने बार बार शक्ति पर जोर दिया था तथा जीवन के शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्रों में शक्ति को जागृत करने का आग्रह किया था।

भारतीय जनता की स्थिति को लक्ष्य करते हुए उन्होंने कहा था कि हमारा देश यद्यपि ज्ञान, इच्छा और संवेदना से परिपूर्ण है किन्तु वह अभी एक वृद्ध व्यक्ति के समान आलस्य, भय और दुर्बलता के पक्षाघात से ग्रस्त हो गया है। भारत को नवजीवन प्राप्त करने के लिए यौवन का आह्वान करना होगा। उसे प्राचीनकाल के समान फिर से गतिशील होना पड़ेगा और शक्ति की तरंगों को जगाना

पड़ेगा। उसकी आत्मा को गरजते हुए महासागर की भाँति वेगसम्पन्न होकर उमड़ना पड़ेगा।

श्री अरबिन्द के राजनीतिक विचार उनके आध्यात्मिक आदर्शों की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। उनके राजनीतिक आदर्शों की नींव सुदृढ़ आध्यात्मिकता पर टिकी हुई है। भारत का एक नया स्वरूप जनता के समक्ष उपस्थित करते हुए उन्होंने कहा था, "राष्ट्र क्या है? हमारी मातृभूमि क्या है? वह केवल भूमिखण्ड या शाब्दिक अभिव्यक्ति नहीं है, वह एक मानसिक कल्पना भी नहीं है। वह महाशक्ति है, अरबों शक्तिपूर्ण ईकाइयों का योग है। जिस प्रकार कोटिशः देवताओं की सम्पुंजित शक्ति से महिषासुरमर्दिनी माँ भवानी का अवतरण हुआ था उसी प्रकार भारत माता भी कोटि कोटि व्यक्तियों की शक्तियों का पुंजीभूत रूप है। किन्तु अभी वह निष्क्रिय होकर तमसपूर्ण तांत्रिक चक्रों में खो गयी है। आत्मविस्मृत तथा आलस्य की निद्रा में ग्रस्त पुत्रों के कारण ही वह इस स्थिति में है। इस तम से मुक्त होने के लिए हमें अन्तर्निहित ब्रह्म को जगाना होगा।" भारत के भविष्य के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा था, "भारत का विनाश नहीं हो सकता; हमारी जाति नष्ट नहीं हो सकती; क्योंकि समस्त मानव जाति का भविष्य, उसका सौभाग्य भारत के लिए ही सुरक्षित है। हमारा देश सारे संसार को एक ऐसा धर्म प्रदान करेगा जो समस्त मानवजाति को एकता के सूत्र में पिरो सकता है। यह देश

नैतिक क्षेत्र में भी उल्लेखनीय कार्य करेगा तथा मनुष्य की बर्बरता का निराकरण करते हुए सारे संसार को आर्य बना देगा। किन्तु इस महत् कार्य को करने के लिए पहले भारत को ही फिर से आर्य बनना पड़ेगा।"

श्री अरविन्द अपने प्रत्येक कार्य को आध्यात्मिक बना देना चाहते थे। उन्हें प्रत्येक कार्य में ईश्वरीय आलोक का बोध होता था। वे समझते थे कि इस ईश्वरीय बोध की प्रत्यक्ष अनुभूति के अभाव में उनका जीवन व्यर्थ है। धीरे धीरे आत्मा की पुकार को कार्य रूप में परिणत करने के लिए वे सक्रिय राजनीति से दूर होते गए और अपने जीवन को उन्होंने आध्यात्मिक साधना की ओर मोड़ा। सन् १९०१ में श्री अरविन्द का विवाह हो गया था। किन्तु देशप्रेम की ज्वाला उनके हृदय में सुलग रही थी इसलिए उनका व्यक्तित्व दाम्पत्य की सीमा में बँध नहीं सका। उन्होंने सन् १९०५ में अपनी पत्नी श्रीमती मृणालिनी देवी को पत्र में लिखा था, "तुम्हें संभवतः अब तक यह ज्ञात हो गया होगा कि तुम्हारा भाग्य एक विचित्र व्यक्ति के साथ जुड़ गया है। मेरी जीवन-दृष्टि, मेरा लक्ष्य और कार्य सामान्य व्यक्तियों की तरह नहीं है। यह सर्वथा भिन्न प्रकार का है। कदाचित् तुम जानती हो कि इसप्रकार के असाधारण विचारों, असामान्य कार्यों और असाधारण आकांक्षाओं वाले व्यक्ति को लोग किस नाम से पुकारते हैं। वे इन बातों को पागलपन कहते हैं। पर ऐसा पागल व्यक्ति यदि अपने कार्यक्षेत्र में सफल हो जाता है तब

संसार उसे पागल न कहकर महापुरुष अथवा प्रतिभावान पुरुष कहता है।" उन्होंने अपने पहले प्रकार के पागलपन का उल्लेख करते हुए लिखा था, "दूसरों की सहायता करना ही धर्म है। आश्रितों की सहायता करना परम धर्म तो है, किन्तु केवल अपने भाई-बहिनों की सहायता करने से ही इस धर्म की समाप्ति नहीं हो जाती। आज तो सारा देश अपने आश्रितों के समान है। इस देश में मेरे तीस करोड़ भाई-बहिन हैं। इनमें से अनेक तो भूख से मर रहे हैं; बहुत से लोग रोगों से ग्रस्त होकर जर्जर हो गए हैं और अधिकांश व्यक्ति किसी प्रकार मात्र जीवित हैं। इनकी सहायता करना अत्यंत आवश्यक है। तुम क्या कहती हो? क्या तुम मेरे इस धर्म में भाग लोगी?"

अपने दूसरे पागलपन की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा था, "चाहे जैसे हो, मैं ईश्वर की प्रत्यक्ष अनुभूति करना चाहता हूँ। यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो उसकी अनुभूति अवश्य होनी चाहिए। यह पथ चाहे कितना ही कठिन क्यों न हो किन्तु मैंने इस पथ पर चलने कानि श्चय कर लिया है। हिन्दू धर्म कहता है कि इसका मार्ग व्यक्ति के हृदय और आत्मा से ही होकर गुजरता है। मैंने इस पथ पर चलने के नियमों को जान लिया है तथा एक मास के अभ्यास से ही मैं यह अनुभव करने लगा हूँ कि हिन्दू शास्त्रों की वाणी मिथ्या नहीं है।

"मेरी तीसरी मूर्खता यह है कि जहाँ दूसरे लोग देश को एक निष्क्रिय पदार्थ मानते हैं और उसे नदी, पहाड़,

मैदान और जङ्गल के रूप में देखते हैं, वहाँ मैं अपने देश को अपनी माता समझता हूँ और उसकी माता के समान ही पूजा करता हूँ; उसपर श्रद्धा रखता हूँ।"

उन्होंने अपने कार्यक्षेत्र का विवेचन करते हुए आगे लिखा था, "यदि कोई दैत्य माता के वक्ष पर चढ़कर उसका रक्तपान कर रहा हो तब उसके पुत्र को क्या करना चाहिए ? क्या वह अपनी पत्नी और संतान के साथ सुखपूर्वक बैठकर भोजन करेगा या अपनी माता की रक्षा के लिए दौड़ पड़ेगा ? मैं जानता हूँ कि मुझमें इस पतित जाति को ऊपर उठाने की शक्ति है। यह भौतिक शक्ति नहीं है। मैं बन्दूक और तलवारों से नहीं अपितु ज्ञान के द्वारा युद्ध करने की तैयारी कर रहा हूँ। योद्धा की एकमात्र शक्ति उसका बल ही नहीं होता। ब्रह्म भी एक शक्ति है। वह ज्ञान पर आधारित है। मेरे लिए यह कोई नई अनुभूति नहीं है। मेरा जन्म ही इस अनुभूति के साथ हुआ है; यह तो मेरी मज्जा में बसी हुई है। ईश्वर ने मुझे इसी कार्य के लिए भेजा है। इसकी स्फूर्ति मेरे हृदय में चौदह वर्ष की अवस्था में ही हो गई थी। जब मैं अठारह वर्ष का हुआ तब इस अनुभूति की जड़ें बड़ी गहरी जम चुकी थीं और अब तो यह मेरे जीवन का एक अविभाज्य अंग हो गयी है।"

हमें उपर्युक्त कथन में श्री अरविन्द की विकासशील आध्यात्मिकता का परिचय मिल जाता है। अब वे योगाभ्यास की ओर मुड़ते हैं। कुछ ही समय के उपरान्त उन्हें

अनेक चमत्कारिक अनुभव हुए। उनका मानसिक एवं बौद्धिक स्तर पूर्वापेक्षा अधिक विकसित होता गया और उनकी स्मरण-शक्ति में भी पर्याप्त वृद्धि हो गई। वे अब अपने मस्तिष्क के चारों ओर शक्ति-संचार का अनुभव करने लगे थे। उनकी जीवनचर्या बड़ी संयत थी तथा वे योग के नियमों का पूरी कड़ाई से पालन करते थे। इसी समय उन्हें श्रीयुत लेले महोदय का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ था जो स्वयं एक अच्छे योगी थे।

सन् १९०६ में ही श्री अरविन्द को नेशनल कॉलेज का प्राचार्य बना दिया गया था किन्तु सन् १९०७ में उन्होंने बड़ौदा छोड़ दिया। सन् १९०८ में उन्हें राजनीतिक बन्दी के रूप में अलीपुर जेल में रखा गया। यहाँ वे एक वर्ष तक कैद रहे। यद्यपि श्री अरविन्द के साथ अन्य बन्दी भी रहा करते थे किन्तु इससे उनकी योग-साधना में कोई अवरोध उपस्थित नहीं हुआ। कारावास के दिनों में ही उन्हें श्रीकृष्ण के दर्शन हुए थे। इसी समय योगाभ्यास करते हुए उन्हें उत्थापन सिद्धि भी प्राप्त हुई थी और उनका शरीर जमीन की सतह से ऊपर उठ गया था।

साधनाकाल में उन्हें अनेक अवसरों पर स्वामी विवेकानन्दजी की वाणी सुनाई देती थी तथा उन्हें स्वामी जी की उपस्थिति का स्पष्ट आभास मिलता था। यहाँ यह स्मरणीय है कि स्वामी विवेकानन्द का देहावसान सन् १९०२ में ही हो गया था। लगभग पन्द्रह दिनों तक उन्हें स्वामीजी से योग विषयक आवश्यक निर्देश मिलते रहे।

एक वर्ष के उपरान्त ५ मई सन् १९०९ में श्री अरविन्द छोड़ दिये गए। इसके उपरान्त उनका सारा जीवन पांडुचेरी में बीता। तब पाण्डुचेरी फ्रांस के अन्तर्गत थी यद्यपि श्री अरविन्द के पाण्डुचेरी जाने के पीछे कोई राजनीतिक कारण नहीं थे किन्तु यह भी सत्य था कि वे अंग्रेज सरकार की आँखों में खटकने लगे थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा था, "यही ऊपर का आदेश था। मैं यहीं जाने के लिए कहा गया था।"

पाण्डुचेरी में श्री अरविन्द गहनतर साधना में प्रवृत्त हुए और २४ नवम्बर सन् १९२६ की सन्ध्यावेला में उनकी चिर संचित आकांक्षा पूर्ण हो गई। इस पुनीत वेला में उन्हें ईश्वरत्व की प्रत्यक्ष अनुभूति हुई थी। श्री अरविन्द के जीवन में इसे 'महासिद्धि दिवस' कहा गया है। इसके अनंतर श्री अरविन्द का जीवन लेखन-कार्य और साधकों के मार्ग-प्रदर्शन में बीता। उनके पास विश्व के कोने-कोने से आध्यात्मिक साधना के पथिक आते थे और उनसे अपनी जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त करते थे। श्री अरविन्द की शिक्षा का सार है—"मनुष्य के अन्तर्निहित दैवत्व का प्रकाशन।" श्री अरविन्द का मत था कि प्रत्येक प्राणी में दैवत्व समान रूप से विद्यमान है और प्रत्येक व्यक्ति इस दैवत्व की साक्षात् उपलब्धि कर दिव्यानन्द का अधिकारी बन सकता है।

शत-शत मुमुक्षुओं का मार्ग दर्शन करने के उपरान्त ५ दिसम्बर १९५० को महायोगी अरविन्द ने इस संसार

से प्रयाण किया। कहा जाता है कि उनके देहावसान के १११ घण्टे उपरान्त तक उनकी देह में किसी भी प्रकार का विकार या परिवर्तन नहीं आया था। इसका समाचार सुनकर अनेक देशों के लोग उनका दर्शन करने आए थे।

महायोगी अरविन्द को रोमाँ रोलाँ ने एशिया और यूरोप की प्रतिभाओं का समन्वय कहा था। कविवर रवीन्द्रनाथ ने उन्हें प्राचीन हिन्दू ऋषियों की वाणी को उद्घोषित करने वाले मन्त्रद्रष्टा ऋषि के रूप में देखा था। सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने आध्यात्मिक एवं बौद्धिक अनुभूति सम्पन्न सर्वाधिक सशक्त एवं पूर्ण व्यक्तित्व के रूप में उनका दर्शन किया था। श्री अरविन्द भारतीय योगविद्या के सरोवर के एक सद्यः विकसित कमल के समान थे जिन्होंने पतंजलि की योग—साधना को अपने जीवन में फिर से उतारने का प्रयास किया था।
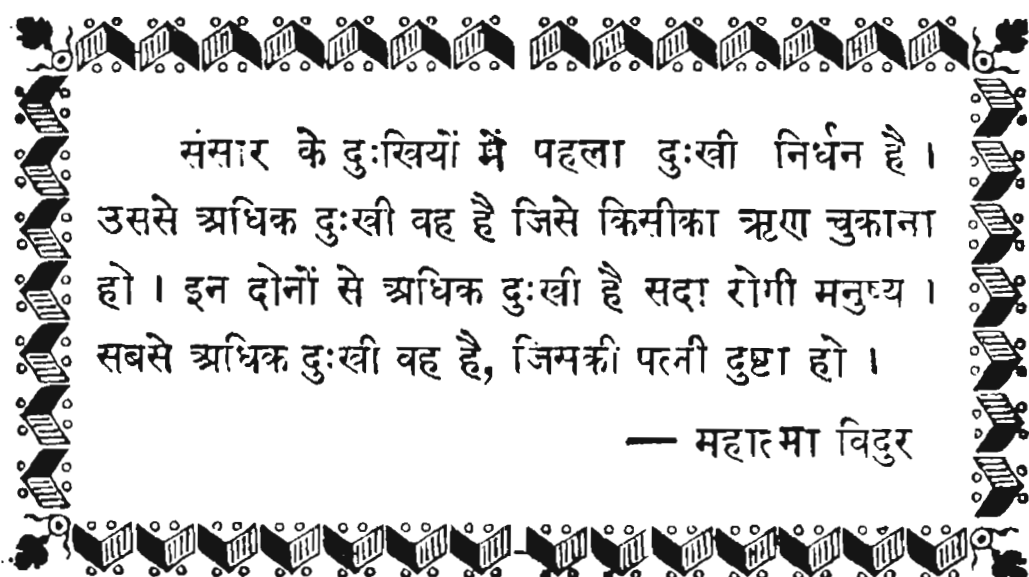
संसार के दुःखियों में पहला दुःखी निर्धन है। उससे अधिक दुःखी वह है जिसे किसीका ऋण चुकाना हो। इन दोनों से अधिक दुःखी है सदा रोगी मनुष्य। सबसे अधिक दुःखी वह है, जिसकी पत्नी दुष्टा हो।

— महात्मा विदुर

विष नहिं तजहिं भुजंग

श्री सन्तोष कुमार झा

प्राचीन समय की बात है, नगर के कोलाहल से दूर, किसी गहन वन में एक ऋषि रहा करते थे। आत्मज्ञान को प्राप्ति के लिए ऋषि ने कठोर व्रत का अनुष्ठान किया था। उस गहन वन में पर्वत उपत्यकाओं के बीच एक छोटी सी नदी बहती थी। अनुपम था उस नदी का सौंदर्य ! शुभ्र रजत-धवल जल पर्वत और घाटियों को गुंजारित करने वाली उसकी मोहक कलकल ध्वनि ! सहज ही मनुष्य का मन जड़ प्रकृति से ऊपर उठकर चैतन्य के चिन्तन में लीन हो जाता था। तभी तो उस तपस्वी ऋषि ने अपनी साधना के लिये यह स्थान चुना था।

ऋषि उसी नदी के तीर पर पर्वत की एक गुफा में रहते थे। वन के सहज उपलब्ध फल-मूल और उस नदी का मीठा जल यही उनका आहार था। वे अपना अधिकांश समय आत्म चिंतन और वेदाध्ययन में व्यतीत किया करते थे। संसार से विरत मुनि के मन में हिंसा, द्वेष, ईर्ष्या आदि के लिये कोई स्थान न था। उनका हृदय सभी प्राणियों के लिये करुणा से परिपूर्ण था।

वह गहन वन भयानक हिंसक पशुओं से भरा था। ऋषि के आश्रम के समीप कभी बनराज आकर भयंकर गर्जना कर जाता—करुणामय ऋषि के प्रति मानो यही उसका अभिनन्दन होता। कभी कोई मदमस्त गज उधर आ निकलता किंतु शांतहृदय ऋषि के दर्शन कर उसका चंचल मन शांत हो जाता। वह अपनी सूँड़ ऊपर उठाकर मानों ऋषि का अभिनन्दन करता और वहाँ से चला जाता। मृग, हरिण आदि तो मानों आश्रम में ही रहते थे। ये वन्य पशु ऋषि से इतने हिलमिल गये थे कि ऋषि उन्हें अपने हाथों से ताज़ी पत्तियाँ और हरी हरी घास खिलाया करते। ऋषि के पावन संसर्ग में आकर वे वन्य प्राणी भी शांति और सुख का अनुभव करते।

एक दिन भटकता भटकता कहीं से एक ग्रामीण कुत्ता उधर आ निकला। वन की भयानकता एवं वन्य पशुओं की डरावनी आवाज से वह थर थर काँप रहा था। ऋषि की दृष्टि उस निरीह प्राणी पर पड़ी। उनके हृदय की करुणा जाग उठी। उन्होंने स्नेह से उस कुत्ते को पुचकारा और थपथपाया। कुत्ता भी ऋषि का स्नेह पाकर निर्भय हो गया। अब वह भी ऋषि के आश्रम में रहने लगा। जो कुछ ऋषि से उसे प्राप्त हो जाता उसी पर अपना निर्वाह करता। उसके दिन आनंद से कट रहे थे।

एक दिन हठात् वह हाँफता हाँफता ऋषि के चरणों के समीप आकर खड़ा हो गया। ऋषि ने उसे अश्वस्त कर प्रश्नभरी दृष्टि से उसकी ओर देखा।

कुत्ते ने निवेदन किया, "प्रभु! आश्रम के समीप ही एक भयानक चीता आया है। वह मुझे मारकर खा जाना चाहता है। मैं उसीके भय से व्याकुल हूँ।"

ऋषि ने उसे अभय दान दिया और कहा, "तुम चिन्ता न करो; मेरे रहते तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट नहीं होगा।"

श्वान ने निवेदन किया, "भगवन्! दिनरात आप कहाँ तक मेरी रक्षा की चिंता में व्यस्त रहेंगे। इससे आपके नित्यकर्म में भी व्यवधान होने की संभावना है। फिर, जब आप भजन-पूजन में व्यस्त रहते हैं यदि उस समय मुझ पर विपत्ति आई तब मेरा त्राण कौन करेगा? प्रभु, आप दया करके मुझे भी उस चीते की भाँति शक्ति दे दीजिए।"

करुणापूत ऋषि ने श्वान की इच्छा पूर्ण कर दी। मंत्राभिषिक्त जल के छींटे पड़ते ही वह शुद्र श्वान एक भयानक चीते में परिवर्तित हो गया। विस्फारित नेत्रों से उसने एक बार अपनी नई देह को भरपूर देखा। उसके मन का रहासहा भय भी दूर हो गया। उसने अत्यन्त नम्रता पूर्वक ऋपि को प्रणाम किया। श्वान की प्रसन्नता और निर्भयता देखकर ऋषि का मन भी आनंद से भर गया।

उस वन्य चीते की ओर देखकर इस नये चीते ने रोष पूर्ण गर्जना की। अपने से भी अधिक सशक्त और भयानक चीते को देखकर वह जङ्गली चीता भयभीत होकर वहाँ से भाग गया।

ऋषि-निर्मित यह चीता आश्रम के पास ही एक गुफा में रहता था और निर्भय हो कर उस वनस्थली में विचरण

करता था। निरीह खगादि ही उसके आहार थे। इसी तरह आनंद पूर्वक उसके दिन बीत रहे थे।

एक दिन अचानक ही वह हाँफता हुआ ऋषि के आश्रम में आया। थकावट के कारण उसके मुँह से झाग निकल रही थी। भय से वह काँप रहा था।

ऋषि ने उसकी दुर्दशा देख कर उससे पूछा, "क्यों, अब किस भय से तुम पीड़ित तो ?"

चीते ने कहा, "भगवन्, चीते का शरीर पाने के पश्चात् आपकी कृपा से अब तक तो मैं निर्भीक हो कर आनन्द-पूर्वक जीवन यापन करता रहा। किन्तु आज मेरी गुफा की ओर एक भयानक व्याघ्र आ पहुँचा। उसने भीषण गर्जना की। उसके वज्र घोष से मेरा हृदय दहल उठा। उसने मुझे देख लिया और अपने पैने दाँतों को खोलकर वह मेरी ओर झपटा। बड़ी कठिनाई से प्राण बचाकर किसी भाँति मैं आपकी शरण में आ पाया हूँ। मेरी रक्षा कीजिये, भगवन् ! मैं भय से व्याकुल हो रहा हूँ।"

ऋषि ने पुनः उस चीते को अभयदान दिया।

किन्तु चीते ने निवेदन किया, "प्रभु ! आपकी कृपा से मेरा भय जाता रहा। किन्तु भगवन् ! आखेट के लिये मुझे वन में दूर दूर तक जाना पड़ता है इस भयानक वन में न जाने कितने व्याघ्र होंगे। आखेट के समय यदि किसी बाघ से मेरा सामना हो गया तो मेरी मृत्यु निश्चित है। उस समय आप मेरी रक्षा कैसे कर सकेंगे ? नाथ, दया

करके मुझे भी एक शक्तिशाली बाघ बना दीजिये, जिससे मैं सदैव के लिये व्याघ्र के भय से मुक्त हो जाऊँ।"

पुनः एक बार मंत्र-युक्त जल उस चीते के शरीर पर पड़ा। क्षण मात्र में वह चीता एक भयंकर बाघ में परिणत हो गया। उसने एक अँगड़ाई ली और वज्र घोष से वन को प्रकम्पित करने लगा। ऋषि ने तृप्तिपूर्वक उसकी ओर देखा। क्षण मात्र में ही एक छलाँग लगाकर वह नवव्याघ्र आँखों से ओझल हो गया।

बहुत दिन बीत गये किन्तु ऋषि को वह व्याघ्र न दिखा। ऋषि ने भी सोचा, कदाचित् व्याघ्र-देह पाकर वह श्वान पूर्ण भयरहित हो गया है और उसके दिन आनंदपूर्वक कट रहे हैं।

इधर वह कुत्ता व्याघ्र होकर उस सारे वनप्रांत को आतंकित करने लगा। वह निर्भीक होकर स्वच्छन्दतापूर्वक उस वन में विचरण किया करता। मृगादि से परिपूर्ण वन में उसे भोजन का अभाव था ही नहीं। व्याघ्र होने के कारण भय भी नहीं था।

जब कष्ट और विपत्ति का अभाव और सुख-सुविधाओं का प्राचुर्य रहे तब भला किसे अपने प्रश्रय दाता का स्मरण होता है ? शक्तिमद में चूर वह व्याघ्र भी अपने आश्रय-दाता ऋषि को भूल गया।

पर सुख-सुविधाएँ जीवन में कमल के पत्ते पर पड़ी पानी की बूँद की भाँति चंचल और क्षणिक होती हैं। इस नव व्याघ्र का भी विपत्तिक्षण समीप आ पहुँचा। एक

दिन किसी अन्य वन से एक मद-मस्त हाथी झूमता हुआ इस व्याघ्र के वन में आ पहुँचा। अपने मद में उन्मत्त गजराज ने भीषण चिंघाड़ से उस वन को कँपा दिया। बड़े बड़े वृक्षों को उसने तृण के समान उखाड़कर फेंक दिया। उसके आतंक से भयभीत वन्य प्राणी प्राण लेकर भागने लगे। जब व्याघ्र ने यह दृश्य देखा तो उसे बड़ा क्रोध आया। उसने अहंकार पूर्वक गर्जना की और कहा, "अरे, मुझसे भी अधिक शक्तिशाली कौन प्राणी इस वन में आ गया है, जिसने सारे वन्य प्रदेश में आतंक मचा दिया है? मैं भी तो देखूँ उसका शौर्य !"

वनराज झपटकर उस दिशा की ओर चल पड़ा जिधर से सभी प्राणी भागे चले आ रहे थे। अभी वह कुछ ही दूर जा पाया था कि उसके कानों में हृदय हिला देने वाली हाथी की चिंघाड़ सुनाई पड़ी। व्याघ्र देह पाने के पश्चात् आज प्रथमबार उसके मन में भय का संचार हुआ। वह ठिठककर खड़ा हो गया। दूसरे ही क्षण उसने देखा कि एक भयंकर पर्वताकृत प्राणी रोषपूर्वक उसकी ओर झपटा चला आ रहा है। क्रोध में भरे भयंकर गजराज को अपनी ओर झपटते देख बाघ के तो मानों प्राण ही उड़ गये। किसी प्रकार साहस बटोरकर वह प्राण रक्षार्थ वहाँ से भाग चला।

दुःख और विपत्ति में प्राणी शत्रु से भी मित्रवत् व्यवहार की आशा रखने लगता है, फिर यदि ऐसे अवसर पर अपने करुणामय आश्रयदाता का स्मरण हो आये

तो क्या आश्चर्य ! व्याघ्र भी ऋषि के आश्रम की ओर भाग चला ।

भय और क्लान्ति से मृतप्राय हुआ वह ऋषि के चरणों में जाकर गिर पड़ा और अचेत हो गया । ऋषि ने उसे प्रेम पूर्वक थपथपाया । कुछ क्षणों पश्चात् व्याघ्र की चेतना लौटी । उसने अत्यन्त ही विनीत स्वर में ऋषि से क्षमा याचना की और कहा, "भगवन् ! मुझे क्षमा कर दीजिये ! मैं बड़ा अधम हूँ । व्याघ्र-देह पाने के पश्चात् मैं आपकी सेवा से विमुख होकर दूर चला गया था । वर्षों तक मैंने आपके दर्शन भी नहीं किये । मैं अपनी शक्ति के मद में चूर था । किन्तु आज मेरी आँखें खुल गईं । मुझे यह अनुभव हो गया कि मैं आपकी कृपा के बिना इस वन में निर्भय होकर नहीं रह सकता ।"

तभी दूर से मदमत्त गजराज की भीषण चिंघाड़ सुनाई पड़ी । व्याघ्र की देह हवा के झोंकों से काँपते पीपल के पत्ते की भाँति काँप उठी । उसने ऋषि से कहा, "प्रभु ! यही मेरे भय का कारण है । इस भीषण गज की शक्ति के कारण ही मैं भयभीत हो रहा हूँ । नाथ, दया करके मुझे भी हाथी बना दीजिये, जिससे मैं भी इसकी भाँति विशाल देह और प्रचण्ड शक्ति प्राप्त कर सकूँ ।"

निःस्पृह ऋषि के मुख पर स्मित हास्य की एक हल्की-सी रेखा खिंच गई । दृष्टि उठाकर उन्होंने देखा, पास ही कुछ दूर पर एक विशाल पर्वताकार हाथी खड़ा है । सम-दर्शी ऋषि के दर्शन मात्र से गजराज का क्रोध शांत हो

गया। किन्तु अभी भी उसकी दृष्टि व्याघ्र पर ही जमी थी।

ऋषि ने शरणागत की इच्छापूर्ति का ही निश्चय किया। पुनः उन्होंने व्याघ को मंत्रयुक्त जल से अभिषिक्त किया और क्षण मात्र में ही वह एक विशाल, प्रचण्ड शक्ति संपन्न हाथी बन गया। नव-गज ने सूँड़ उठाकर एक भीषण चिंघाड़ की। उस घोर शब्द से वनस्थली हिल उठी। वह दूसरा जंगली हाथी भी काँप उठा। अपने से भी विशाल एक अन्य गज को वहाँ उपस्थित देख उसका साहस छूट गया और वह भाग खड़ा हुआ।

यह नव-गज अब निर्भय और स्वतंत्र होकर उस वन्य प्रांत में स्वच्छन्द होकर विचरने लगा। अपनी शक्ति और ऋषि-कृपा से वह निश्शंक हो गया था। वह दूर दूर तक वनों में जाता और भाँति भाँति के फल-मूल खाकर तृप्त होता। आनन्दातिरेक में वृक्षों को उखाड़ फेंकता और लता-पौधों को रौंद डालता।

कुछ दिन बीतने पर, कहीं दूर के वन से एक विकराल सिंह घूमता हुआ उस वन में आ पहुँचा। नये राज्य की विजय-कामना लेकर वह इस वन में आया था। अपनी शक्ति और अधिकार का प्रदर्शन करने के लिये उसने वज्रवत् एक भीषण गर्जन किया। उसकी उस गर्जना से दसों दिशाएँ गूँज उठीं।

वह भीषण शब्द इस हाथी के कानों में भी पड़ा। अपने वन-प्रांत में ऐसा भीषण शब्द उसने कभी नहीं सुना था। उसे कुछ कुतूहल पूर्ण आश्चर्य हुआ। घनी झाड़ियों

से बाहर आकर वह आश्चर्य-विस्फारित नेत्रों से उस ओर देखने लगा जिधर से वह भीषण शब्द आया था। हठात् उसकी दृष्टि थोड़ी ही दूर पर खड़े मृगराज पर पड़ी मृगेन्द्र ने भी दृष्टि उठाकर हाथी की ओर देखा। अपने सामने एक हाथी को निर्भीक खड़ा देख उसका स्वाभिमान आहत हो उठा। यह तो मानों उसके अधिकार, उसकी सत्ता, और उसकी शक्ति को एक खुली चुनौती थी! एक हाथी मृगेन्द्र के सम्मुख निर्भीक खड़ा रहे! असंभव! दूसरे ही क्षण दसों दिशाओं को प्रकम्पित करने वाली वही भीषण गर्जना पुनः हुई। इस बार दिशाओं के साथ साथ गजराज का हृदय भी हिल उठा। भावी विपत्ति और मृत्यु की आशंका उसे स्पष्ट हो गई।

तभी झपट पड़ा मृगेन्द्र अपनी अवहेलना का प्रतिशोध लेने। प्राणों को संकट में जान हाथी की विलुप्त-सी चेतना लौटी। किसी तरह वह प्राण बचाकर भाग चला।

पर भाग कर जाये कहाँ? मृगेन्द्र में तो मानों विद्युन्-गति और वायु की शक्ति थी। कुछ क्षणों के लिये गजराज ने अपने आपको असहाय और निरीह अनुभव किया। तभी उसकी बुद्धि में अपने शरणदाता ऋषि की स्मृति बिजली-सी कौंध गई। वह करुणासागर ऋषि के आश्रम की ओर भाग चला।

ऋषि उसी समय पास की नदी में स्नान करके आश्रम की ओर लौट रहे थे। उन्हें दूर कोई विशाल वस्तु हिलती सी प्रतीत हुई। कुछ ही क्षणों में उन्होंने देखा कि एक

विशालकाय हाथी उनके आश्रम की ओर भागा चला आ रहा है। उसके पीछे ही एक भयंकर सिंह छलाँगें लगाता हुआ चला आ रहा था। क्रोध के कारण सिंह की आँखों से मानों अग्नि वर्षा हो रही थी।

यह दृश्य देखकर ऋषि को गजराज की दयनीयता भाँपते देर न लगी। अपने तपोबल से उन्होंने मृगेन्द्र को दूर ही रोक दिया। तब तक हाथी ऋषि के चरणों के समीप आ चुका था। वहाँ ठहर कर उसने पीछे की ओर मुड़ कर देखा, उसका शत्रु उससे दूर चुपचाप खड़ा है। वह आगे नहीं बढ़ पा रहा है। सूँड़ उठाकर गजने कृतज्ञतापूर्वक ऋषि का अभिवादन किया। ऋषिने स्मित हास्य से उसका प्रत्युत्तर दिया। तपस्वी की करुणामयी मुद्रा देख कर गज को ढाढ़स बँधा। उसने अनुभव किया कि ऋषि ने उसकी कृतज्ञता के लिये उसे क्षमा कर दिया है।

केसरी से भय और पराजय तथा अपनी दुर्बलता के कारण गजराज को बड़ी मानसिक पीड़ा हो रही थी। आत्म ग्लानि से मानों वह गला जा रहा था। चिता तो मृत्यु के पश्चात् प्राणी के शरीर को जलाती है किन्तु दुर्बलता के कारण हुए अपमान की ज्वाला प्राणी को तिल तिल कर जीवित ही जलाया करती है। इस दुःख और दाह से त्राण पाने का एक ही उपाय गजराज को सूझ पड़ा। उसने मन ही मन सोचा, "यदि मैं भी एक शक्तिशाली सिंह होता तो आज मेरी ऐसी दुर्गति न होती।"

इस विचार के आते ही व्याकुलता से उसका हृदय

फटने लगा। पर्वतीय निर्झर की भाँति उसकी आँखों से अश्रुधारा बहचली। उसने अत्यन्त कातर स्वर में ऋषि से प्रार्थना की, "भगवन ! आपने कृपा पूर्वक मुझे एक शुद्र श्वान से विशाल हाथी बना दिया। मैं इतना विशाल शरीर और प्रचण्ड सामर्थ्य पाकर प्रसन्न था। किंतु प्रभु ! आज केसरी ने मेरी जो दुर्गति की है उससे मैं बहुत अधिक संतप्त हो उठा हूँ। दुःख और ग्लानि से मेरा हृदय फटा जा रहा है। करुणा निधान ! मेरे इस दुःख से आप ही मुझे उबार सकते हैं; और उसका एक ही मार्ग मुझे दीख पड़ता है—यदि आप कृपा पूर्वक मुझे भी एक बल शाली सिंह बना दें तो मैं इस दुःख से छुटकारा पा सकता हूँ।"

गज की हृदयव्यथा और कातरता देखकर ऋषि का हृदय द्रवित हो उठा। पुनः उनके मुख पर स्मित हास्य की रेखा उभर उठी। अंजलि में उन्होंने जल लिया, उसे अभिमंत्रित किया और गजराज की विशाल देह पर छिड़क दिया। क्षणमात्र में वह पर्वताकार गज वहाँ से अदृश्य हो गया और उसके स्थान पर भीषण गर्जन करता हुआ एक सिंह खड़ा था।

सिंह-शरीर पाते ही उस श्वान के मन में प्रतिहिंसा जाग उठी। वह उस जंगली सिंह से प्रतिशोध लेने मुड़ा। इस विकराल नव केसरी को अपनी ओर क्रोध पूर्वक झपटते देख जंगल का सिंह भाग चला। नव केसरी ने कुछ दूर तक उसका पीछा किया, किंतु जंगली सिंह भयभीत होकर भागता ही गया। इससे नये सिंहका दंभ जाग उठा। अपनी वीरता

और विजय पर उसे अभिमान हुआ। उस जंगली सिंह का और पीछा न कर वह वापस लौट आया।

दिन पर दिन बीतते गये। इस नये सिंह के पराक्रम और आतंक से सभी प्राणी त्रस्त थे। बड़े बड़े गजराज इस शक्ति शाली मृगेन्द्र को देखकर भय से काँप उठते थे। अब यह नव केशरी पूर्ण निर्भीक होकर इच्छानुसार उस विशाल वन में स्वतंत्रता पूर्वक घूमा करता। निरीह वन्य प्राणियों का रक्त और मांस खा-खाकर वह बहुत पुष्ट हो गया था।

तभी एक दिन उसके जीवन में भयंकर तूफान आया। सभी प्राणियों को भयभीत और त्रस्त करने वाला एक भयानक शरभ * कहीं से उस वन में आ पहुँचा। वह साक्षात् यम की भाँति भयंकर था। उसकी आँखें ऊपर की ओर थीं। उनसे मानो क्रूरता टपक रही थी। उसी समय वह सिंह भी उधर आ निकला। सिंह पर दृष्टि पड़ते ही क्रूर शरभ ने भीषण चीत्कार किया। वह सिंह का रक्त-पान करने के लिये लालायित हो उठा। क्रोध और क्षुधा से पीड़ित शरभ सिंह पर टूट पड़ा। इस भयंकर प्राणी के आकस्मिक आक्रमण से सिंह अत्यन्त भयभीत हो उठा। किन्तु प्राणरक्षा के लिये साहस बटोरकर उसने शरभ का सामना करने का प्रयत्न किया। किंतु शक्तिशाली शरभ के भीषण आघात से वह सिंह क्षत-विक्षत हो उठा।

प्राणरक्षा का और कोई उपाय न देख सिंह ऋषि के आश्रम की ओर भाग चला। उन्हों ने तो उसे हर बार

---

* सिंह से भी अधिक बलवान एक कल्पित अष्टपाद पशु।

विपत्तियों से बचाया था। किसी भाँति गिरता-पड़ता वह ऋषि के आश्रम में पहुचा। घायल और रक्त रंजित सिंह को देखकर करुणामूर्ति ऋषि को बड़ी दया आई। उन्होंने घायल सिंह को शांत किया। उसके घावों को सहलाया। उसी समय विचित्र एवं भीषण गर्जना करता हुआ शरभ भी वहाँ आ पहुँचा। उसके घोर रव से सिंह काँपने लगा। ऋषि के तेज के कारण शरभ दूर ही खड़ा रहा।

भयभीत सिंह ने अपने आश्रयदाता से प्रार्थना की, "भगवन! आज मुझे ज्ञात हो गया कि वन में सबसे अधिक शक्ति शाली प्राणी शरभ ही होता है। उसे किसी भी प्राणी से भय नहीं होता। कोई भी प्राणी उसका बाल-बाँका नहीं कर सकता। यदि मैं भी आज शरभ होता तो मुझ पर यह विपत्ति कदापि न आती। दयानिधे! इस बार कृपा करके मुझे शरभ बना दीजिये। शरभ होकर मैं सदैव के लिये भय और दुःख से मुक्त हो जाऊँगा। फिर कभी आप को कष्ट नहीं दूँगा।"

ऋषि करुणासागर तो थे ही। यह जानते हुए भी कि प्राणी की शक्तिलिप्सा बड़वानल की भाँति कभी तृप्त नहीं होती, उन्होंने उस सिंह पर दया की और अपने योगबल से उसे एक भीषण शक्तिशाली शरभ बना दिया। अपने से अधिक बलवान एक दूसरे शरभ को देख कर वह जंगली शरभ भाग गया। जंगली शरभ को भयभीत होकर भागते देख नये शरभ के गर्व की सीमा न रही। उसका अहंकार जाग उठा। उसके दंभ ने मंत्रणा दी—"जब एक क्रूर शरभ

तुम्हारे भय से भाग सकता है, तब भला अन्य किस प्राणी का सामर्थ्य है जो तुम्हारी शक्ति के सामने टिक सके। बड़े बड़े विकराल सिंह भी अब तुम्हारी गर्जना मात्र से भयभीत हो उठेंगे। अब तो तुम वनराज के भी राजा हो ! शक्ति के सम्राट हो ! अजेय हो !"

शक्ति के मद में चूर इस नव शरभ ने दंभपूर्वक दसों दिशाओं को हिला देने वाली भीषण गर्जना की। दंभ वह घनघोर घटा है जो प्राणी के ज्ञान-सूर्य को ढँककर उसके जीवन को अंधकार पूर्ण कर देती है। शक्ति का अभिमान वह मद्य है जिससे मत्त प्राणी उन्मत्त हो कर स्वयं अपना ही घात कर लेता है। पाशविक सामर्थ्य की लालसा प्राणी को अंधा कर पथभ्रष्ट कर देती है।

नया शरभ भी माया के इस छलने नियम का अपवाद न हो सका। शक्तिमद में चूर होकर वह वन्य प्राणियों का भीषण संहार करने लगा। अपनी क्षुधा तृप्ति के अतिरिक्त केवल मनोरंजनार्थ ही वह निरीह प्राणियों का वधकर दिया करता था।

ईर्ष्या अभिमान की दुहिता और संदेह की जननी है। शंका मनोभूमि में बोया वह विष बीज है जिसके अंकुर को यदि प्रारंभ में ही नष्ट न कर दिया गया तो उससे वर्धित विष वृक्ष उस प्राणी का सर्वनाश कर देता है, जिसकी मनोभूमि में उसका वपन हुआ था।

एक दिन वह दुष्ट शरभ एक पेड़ की घनी छाया में विश्राम कर रहा था। तभी हठात् उसे अपने विगत जीवन

का स्मरण हो आया। उसे अपनी श्वान योनि की दुर्दशा और निरीहता का स्मरण कर बड़ी घृणा हुई। फिर क्रमशः श्रेष्ठ योनियों में आकर अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करने की घटनाओं का स्मरण कर उसे बड़ा आनंद हुआ। वह सोचने लगा—अब मैं सभी वन्य प्राणियों में श्रेष्ठ और अजेय हूँ! मैं निर्भय और निश्शंक हूँ! मुझे अब किसी से कोई भय नहीं!

अभी वह कल्पना के इस लोक में विचर ही रहा था कि उसके क्रूर अंतःकरण के किसी कोने से शंका की एक ध्वनि आई—"तुम अकेले शरभ इस वन में हो इसी लिये निर्भय और स्वतंत्र हो। यदि कोई तुमसे भी शक्ति शाली शरभ आ जाय तब?"

इस विचार के आते ही शरभ की आँखों के सामने विगत दिनों की सारी घटना चलचित्र की भाँति घूम गयी। जब वह स्वयं सिंह था और शरभ ने उस पर प्राणघातक आक्रमण किया था, तब उसकी प्रार्थना पर ऋषि ने उसे भी सिंह से शरभ बना दिया था— उस वन्य शरभ से कहीं अधिक शक्तिशाली और प्रचण्ड।

दुष्ट शरभ के मन में शंका का विषवृक्ष पल्लवित होने लगा। उसे लगने लगा, कहीं ऐसा न हो कि कोई अन्य प्राणी उस ऋषि के पास पहुँच जाय और मेरी शिकायत कर दे या ऋषि से स्वयं को भी शरभ बना देने की प्रार्थना करे। यदि कहीं ऋषि का हृदय द्रवित हो गया तब? ऋषि ने यदि मुझसे भी अधिक शक्तिशाली दूसरा शरभ

बना दिया तब क्या होगा? क्या! क्या!! मुझे पुनः भयभीत होना पड़ेगा? क्या मेरी यह सत्ता, यह स्वतंत्रता, यह बल, यह वैभव, सभी कुछ छिन जायेगा?

उसके क्रूर और मदांध अंतःकरण ने कहा— हाँ, यही होगा! दूसरे शरभ के उत्पन्न होते ही तुम्हारी सत्ता छिन जायेगी! तुम्हारा अधिकार समाप्त हो जायेगा!

मन के एक द्वारसे जब कुशंका का प्रवेश होता है तब विवेक दूसरे द्वार से निकल जाता है। विवेक के पलायन करते ही मोह व्याप्त हो जाता है। मोह की व्याप्ति ही तो सारी व्याकुलताओं और दुःखों का मूल है।

शरभ की भी यही गति हुई। कुशंकाओं के कारण उसका हृदय व्याकुल हो उठा। बार बार उसके मन से यह पुकार आने लगी कि यदि ऋषि ने दूसरा शरभ बना दिया तब क्या होगा! उस पशु की पैशाचिकता जागी। उसने शोचा—क्यों न उस शक्ति को ही समाप्त कर दूँ जिससे दूसरा शरभ उत्पन्न होने की संभावना है। उस ऋषि का वध कर देने पर मैं सदैव के लिये इस भय से मुक्त हो सकता हूँ।

ऋषि अपने आश्रम के समीप ही एक शिलाखंड पर ध्यान मग्न बैठे थे। तभी शरभ वहाँ आ पहुँचा। उस नीच ने सोचा— यही सुअवसर है जब मैं ऋषि के रक्त का पान कर इस दुःख और भय से सदैव के लिये मुक्त हो सकता हूँ, इस बाधा को सदा के लिये दूर कर सकता हूँ।

ध्यानस्थ ऋषि ने योगबल से शरभ की कुत्सित इच्छा को जान लिया। नेत्र खोलकर उन्होंने एक बार क्रूर शरभ की ओर देखा और उनके मुँह से शब्द निकल पड़े— "जा, अपने दुष्कर्म के कारण तू पुनः श्वान हो जा!" त्योंही वह शरभ पुनः श्वान हो गया।

इस कथा से हमें यह सीख मिलती है कि क्षुद्र या दुष्ट व्यक्ति को यदि महत् अधिकार दे दिये जायँ अथवा किसी कुपात्र को बड़ा पद दे दिया जाय तो वह उसका दुरुपयोग ही करेगा। उससे समाज को हानि ही होगी, लाभ नहीं।

अतः जीवन के किसी भी क्षेत्र में हम क्यों न हों, यदि प्रभु-कृपा से हमें यह सुअवसर प्राप्त हुआ हो कि हम किसी व्यक्ति को कोई पद या अधिकार दे सकें तो हमें इस कथा का स्मरण कर उसकी पात्रता का अवश्य ही विचार कर लेना चाहिये।

त्याग और सेवा ही भारत का जातीय आदर्श है। इसी भाव को पुनः जगा देना चाहिए। बाकी आपही ठीक हो जाएगा।

— स्वामी विवेकानन्द

<u>प्रश्न</u>— सभी धर्म, और नीतिशास्त्र पाप-पुण्य पर जटिल विचार रखते हैं। क्या आप पाप-पुण्य की सीधी और सरल व्याख्या कर सकते हैं?

— कुमारी हेमरानी भाटिया, जालंधर।

<u>उत्तर</u>— पाप-पुण्य की सरल व्याख्या एक धर्मशास्त्र के श्लोकार्ध द्वारा की गयी है—'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्'' अर्थात् परोपकार पुण्य है और परपीड़न पाप है। कुछ अतिवादी लोग परपीड़न का ऐसा मतलब लगाते हैं कि कभी किसी को दुःख ही नहीं देना। इससे कई लोग शंका करते हैं कि चोर, डाकू, हत्यारा, लम्पट, व्यभिचारी आदि दुराचारी व्यक्तियों से फिर किस प्रकार व्यवहार किया जाय? उनको दण्ड देना क्या परपीड़न नहीं है? इसका उत्तर यह है कि अन्याय का प्रतिकार और अन्यायी का दमन होना ही चाहिए और यह परपीड़न में न आकर परोपकार में आता है।

तीन प्रकार के कर्म माने गये हैं—(१) सामान्य कर्तव्य कर्म, (२) पुण्य कर्म और (३) पाप कर्म। व्यक्ति सर्वदा समाज से सम्बन्धित होता है। उसके विचारों और कर्मों का प्रभाव समाज पर भी पड़ता है। जब वह अपने एवं अपने परिवार के सदस्यों के जीवन-निर्वाह के हेतु उचित तरीकों का सहारा लेते हुए अपनी जीवनयात्रा तै करता है, तो उसके ये कर्म सामान्य कर्तव्य के अन्तर्गत आते हैं। यदि वह अनुचित तरीकों का सहारा लेता है तो वह पाप कर्म करता है और समाज को भी अधोगति की ओर ले जाता है। जो कर्म व्यक्ति और समाज की अवनति करते हैं, वे पापकर्म की कोटि में आते हैं। दूसरी ओर जिन कर्मों से व्यक्ति और समाज की उन्नति होती है, उन्हें पुण्य कर्म कहते हैं। भर्तृहरि ने इन तीन प्रकार के व्यक्तियों का चित्रण अति सुन्दर रूप से किया है। वे 'नीति-शतक' में कहते हैं—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाऽविरोधेन ये।
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

भर्तृहरि पुण्यकर्मी को सत्पुरुष कहते हैं; सामान्य कर्मी को सामान्य और पाप कर्मी को मानवराक्षस। पापकर्मी की एक और कोटि भी वे बताते हैं जो मानवराक्षस से भी गयी बीती है— उसका नामकरण वे नहीं कर पाते। वे कहते हैं—"एक तो सत्पुरुष होते हैं जो अपना स्वार्थ

तनकर दूसरों के हितसाधन में लगे होते हैं; दूसरी कोटि सामान्य पुरुषों की है, जो वहीं तक दूसरों की भलाई करते हैं जब तक उनके अपने स्वार्थ में धक्का नहीं लगता; तीसरी कोटि में मानवराक्षस आते हैं जो अपना मतलब साधने के लिए दूसरों का गला घोंटने में नहीं हिचकते; पर वे लोग जो अकारण ही दूसरों के हित पर कुठाराघात किया करते हैं, किस कोटि में रखे जायँ मैं नहीं जानता।"

प्रश्न— मैंने पढ़ा है कि यदि कोई व्यक्ति बारह वर्ष तक सत्यभाषण करता रहे तो उसकी वाणी कभी मिथ्या नहीं होती। इसका क्या तात्पर्य है?

—ज्योत्स्ना कुमारी राय, रींवा।

उत्तर—आपने ठीक ही पढ़ा है। इसका मतलब यह है कि यदि व्यक्ति सत्य में प्रतिष्ठित हो जाय, तो वह जो कुछ कहेगा वह एक विशेष दायरे के अन्दर सत्य होकर रहेगा। बारह वर्ष समय की दीर्घता सूचित करने के लिए है। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि ऐसा सत्य-प्रतिष्ठ व्यक्ति यदि सूर्य से कहे कि तुम अभी डूब जाओ तो वह डूब जायगा, अथवा चलती रेलगाड़ी से कहे कि तुम रुक जाओ तो वह रुक जायगी। मनुष्य की अपनी एक सीमा होती है; उस सीमा के भीतर ऐसे सत्यप्रतिष्ठ व्यक्ति के मुख से हठात् निकले हुए शब्द भी सत्य होकर रहते हैं—यही तात्पर्य है।

आश्रम समाचार

(३० नवम्बर तक)

प्रत्येक रविवार को ईशावास्योपनिषद् पर स्वामी आत्मानन्द के प्रवचन चलते रहे। ११ अक्तूबर को ईशावास्योपनिषद् पर ग्यारहवाँ और अन्तिम प्रवचन रविशंकर विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० बाबूराम जी सक्सेना की अध्यक्षता में हुआ। उसके बाद एक महीने तीन दिन तक साप्ताहिक सत्संग का कार्यक्रम विजयादशमी और दीपावली के उपलक्ष में बन्द रहा। १५ नवम्बर को पुनः रविवासरीय उपनिषद् प्रवचनमाला शुरू हुई और स्वामी आत्मानन्द ने डा० बाबूरामजी सक्सेना की अध्यक्षता में केनेपनिषद् पर चर्चा का प्रारम्भ किया। अब यह रविवासरीय सत्संग सन्ध्या ५ बजे शुरू हो जाता है।

इस बीच स्वामी आत्मानन्द के अन्य स्थानों पर सत्संग और व्याख्यान हुए। २० अगस्त को भारत जैन महामंडल, इन्दौर के तत्त्वावधान में उन्होंने 'भगवान् महावीर का मानवता को सन्देश' विषय पर अत्यन्त सारगर्भित भाषण दिया। स्वामीजी ने बताया कि धर्म और सत्य के तत्त्वों का दर्शन करनेवाले ऐसे ऋषि और महापुरुष किसी जाति, सम्प्रदाय या देशविशेष के नहीं होते, बल्कि इनके उपदेश सारी मानवता के लिए होते हैं। उस पुरुष के नाम पर सम्प्रदाय और मतवाद को जन्म देकर उसके अनुयायी मानो उस महापुरुष को सीमित कर देते हैं, उनके विचारों को तंग दायरे में बन्द कर देते हैं। आत्मानन्दजी ने इस तंग दायरे को तोड़कर, भगवान् महावीर के विचारों को जीवन में उतारने का आह्वान किया।

२९ अगस्त को जन्माष्टमी के उपलक्ष में भिलाई नगर के सेक्टर २ स्थित मन्दिर में स्वामी आत्मानन्द का भाषण हुआ। ५ सितम्बर को 'शिक्षक दिवस' पर पाटन (दुर्ग) में; ९ सितम्बर को गणेशत्सव में बेमेतरा में; ११ सितम्बर को जांजगीर में, पुनः उसी रात्रि अकलतरा में स्वामीजी के भाषण हुए। १५ सितम्बर को बुरहानपुर की जनसभा में; १६ सितम्बर की सुबह वहीं के कला-वाणिज्य महाविद्यालय में, उसी रात्रि नान्दुरा (महाराष्ट्र) की सार्वजनिक सभा में स्वामीजी ने बड़े ही विचारोत्तेजक व्याख्यान दिये। २२ सितम्बर को सिलनरा में; ९ अक्तूबर को खरोरा में; १३ अक्तूवर को अकलतरा में; १५ अक्तूबर को शहडोल में तथा १६ अक्तूबर को चिरमिरी की जनसभाओं को स्वामीजी ने सम्बोधित किया।

इसके बाद, अखिल भारतीय वेदान्त सम्मेलन द्वारा आमंत्रित होकर स्वामीजी अमृतसर गये, जहाँ देश के स्थान-स्थान से साधु-संन्यासी और श्रोतागण समवेत हुए थे। स्वामी आत्मानन्द ने इस विशाल जनसभा के समक्ष अक्तूबर २९, ३०, ३१ और १ नवम्बर को अत्यन्त युक्तियुक्त, सारगर्भित, वैज्ञानिक कसौटी पर कसते हुए वेदान्त पर व्याख्यान दिये। स्वामीजी के इन व्याख्यानों को उपलब्ध करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। उपलब्ध होने पर, 'विवेक-ज्योति' का पाठकवर्ग भी उनका लाभ ले सकेगा। ३० अक्तूबर को स्वामीजी ने इस वेदान्त सम्मेलन की अध्यक्षता भी की।

२८ नवम्बर को बिलासपुर के राघवेन्द्रराव सभाभवन में तथा ३० नवम्बर को जगदलपुर की जनसभा में स्वामीजी के व्याख्यान हुए।

इसके अतिरिक्त, २४,२५ और २६ नवम्बर को सत्संग भवन में क्रमशः भगवान् श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द और श्रीमाँ सारदा देवी की बँगला फिल्में जनसाधारण के लाभार्थ निःशुल्क प्रदर्शित हुईं। फिल्मों के प्रदर्शन के लिए अध्यक्ष, रामकृष्ण मिशन बॉयेज होम, रहड़ा (बंगाल) के प्रति हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

विस्थापित सहायता कार्य

रामकृष्ण मिशन

रायपुर के निकट स्थित माना और कुरुद शिविरों में पूर्वी पाकिस्तान से आये हुए विस्थापितों की सहायता के हेतु रामकृष्ण मिशन का सेवाकार्य अत्यन्त सराहनीय है। नवम्बर के अन्त तक मिशन ने इस कार्य के लिए एक लाख एकतालीस हजार रुपये से भी अधिक व्यय किया है। खर्च की मदें इस प्रकार हैं:—

मद	संख्या	कीमत
(१) धूसा	१००२०	४१४४०)
(२) ऊनी कम्बल	५०	७५०)
(३) साड़ी	९४२३	४०३६७)०७
(४) साड़ी कटपीस	३८५	५७५)
(५) धोती	४१८६	१७२१९)१३
(६) रेडीमेड वस्त्र	९८५१	१५५४८)
(७) शर्टिंग	१५२० मीटर	१९०२)
(८) चादर	४१४	२०९०)
(९) ब्लाउज़	९९६	१९०९)

(१०) बनियाइन	१८५८	२५००)
(११) लालटेन	१००८	२७१९)
(१२) बाल्टी	५०४	१७९१)
(१३) शक्कर	६०० किलो	७८०)
(१४) हाली बोरेंज टानिक	३०० फायाल	१५२३)
(१५) अल्मूनियम बर्तन	३६७	७३४)
(१६) इनेमल प्लेट	९४४	१४१६)
(१७) मुर्रा	७२ बोरे	६८४)
(१८) हार्लिक्स	१२० पौंड	६३७)५०
(१९) बार्ली	७२० डब्बे	१३००)
(२०) सिंदूरदान	१३६०	२६०)
(२१) सिंदूर	१०० किलो	२८०)
(२२) स्लेट, किताबें आदि		५८९)८५
(२३) धागा, सुई, बटन, विविध		४६५६)
	कुलयोग	१,४१, ६७०)५५

इसके अतिरिक्त मिशन ने १७ मई से १४ नवम्बर तक निम्न-लिखित वस्तुओं को भी तैयार करके बाँटा है:—

(१) बार्ली	३४१.५ किलो
(२) मिल्क पाउडर	३५२७४.५ पौंड
(३) मल्टी परपज़ फुड	५४१ किलो
(४) मल्टी विटामिन गोलियाँ	३१९५१
(५) पुराने वस्त्र	५०७२

फार्म ४ रूल ८ के अनुसार

'विवेक-ज्योति' विषयक ब्यौरा

१. प्रकाशन - स्थान — रायपुर

२ प्रकाशन की नियतकालिता — त्रैमासिक

३. मुद्रक का नाम — बाबू गोपालदास
राष्ट्रीयता — भारतीय
पता — श्रीविश्वेश्वर प्रेस, बुलानाला, वाराणसी-१.

४. प्रकाशक का नाम — स्वामी आत्मानन्द
राष्ट्रीयता — भारतीय
पता — विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

५. सम्पादक का नाम — स्वामी आत्मानन्द
राष्ट्रीयता — भारतीय
पता — विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

६. स्वत्वाधिकारी — स्वामी आत्मानन्द
विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

मैं, स्वामी आत्मानन्द, घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर) स्वामी आत्मानन्द

मुद्रक—श्री विश्वेश्वर प्रेस, बुलानाला, वाराणसी।